रथ पर नहीं चढ़ जाता है, तब तक तुम कर्ण के सिर को बाण से काट डालो, अन्यथा यह अवसर निकल जायेगा। अर्जुन ने अपने को संभालकर अञ्जलिका नामक भयंकर बाण से कर्ण को लक्ष्य बनाया और उसका सिर काट दिया।

इस प्रकार समयोचित परामर्शों तथा युद्धनीतियों के कारण ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्णादि का वध कराकर विजयी बनाया।

*

आर्य आदर्शों के अद्वितीय प्रतीक श्रीकृष्ण

—डा० भवानीलाल भारतीय
(अध्यक्ष दयानन्द पीठ, पंजाब वि. वि. चण्डीगढ़)

मनुष्य अपनी विविध प्रवृत्तियों को सर्वोच्च सोपान पर पहुंचाकर किस प्रकार एक साधारण व्यक्ति से महामानव एवं युगपुरुष के उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, इसका श्रेष्ठ उदाहरण श्री कृष्ण का जीवन है। कारागार की विवशतापूर्ण परिस्थितियों में जन्म लेकर भी कोई मनुष्य संसार का महत्तम नेता बन सकता है, यह श्रीकृष्ण का चरित्र देखने से स्वतः ही विदित हो जाता है। बंकिम के अनुसार श्रीकृष्ण ने अपनी ज्ञानार्जनी, कार्यकारिणी तथा लोकरंजनी तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों को विकास की चरम सीमा तक पहुंचा दिया था, तभी उनके लिए यह सम्भव हो सका कि वे अपने समय के महान् राजनीतिज्ञ और समाज-व्यवस्थापक के गौरवान्वित पद पर आसीन हो सके।

बाल्यावस्था से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण पर्यन्त श्रीकृष्ण उन्नति के पथ पर अग्रसर होते रहे। धर्म के अनुसार लोगों को स्व-कर्तव्य-पालन-हेतु प्रेरित करना ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य रहा। वे स्वयं धर्म में अनन्य निष्ठा रखने वाले और उसके वास्तविक रहस्य को जानकर उसका उपदेश देने वाले महान् धर्मोपदेष्टा थे। ऋषि दयानन्द ने तो यहाँ तक कह दिया था कि **'श्रीकृष्ण ने जन्म से लेकर मरणपर्यन्त कुछ भी बुरा काम नहीं किया।'** यह सब कुछ धर्म पालन के कारण ही सम्भव हुआ। इसीलिए महाभारतकार को लिखना पड़ा :—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः

"जहां कृष्ण हैं जहाँ धर्म है वहां धर्म है वहां जय है।" संजय ने भी इसी प्रकार की बात "गीता" का उपसंहार करते हुए कही थी :—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गाण्डीवधारी अर्जुन हैं वहीं श्री है, वहीं श्री है, वहीं विजय है। अधिक क्या कहें, वहीं ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है।" ये उक्तियाँ श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर नहीं कही गई हैं। यदि ऐसा होता तो इनका कुछ भी मूल्य न होता। ये श्रीकृष्ण की सर्वोपरि मानवीय भावनाओं को ही प्रकाशित करती हैं, जिनके चरम परिष्कार के कारण श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य की कोटि से उठकर महापुरुषों की श्रेणी में आये, योगेश्वर और पुरुषोत्तम बने।

बाल्यकाल से ही देखिये। एक दृढ़-विचार वाले पुष्ट शरीर वाले और स्वस्थ मन तथा संकल्पनिष्ठ आत्मावाले ब्रह्मचारी में जो-जो विशेषताएं होनी चाहिए वे हमें श्रीकृष्ण में मिलती हैं। उनका शारीरिक बल अतुलनीय था। जिससे उन्होंने बाल्यकाल में ही अनेक त्रासदायक एवं हिंसक जन्तुओं का वध किया। समय आने पर उन्होंने युद्धकौशल और रजनीति का साँगोपाँग अध्ययन किया युद्ध-नीति के वे कितने प्रकाण्ड पंडित थे यह तो इसी से ज्ञात हो जाएगा कि अर्जुन और सात्यकि जैसे वीर उनके शिष्य थे जिनको उन्होंने युद्ध-विद्या सिखाई थी। गदा-युद्ध के ये अच्छे ज्ञाता थे। निर्भयता और चातुर्य के वे आकर थे।

शारीरिक बल के अतिरिक्त उनका शास्त्रीय ज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा था। वे वेदों और वेदांगों के अनुपम ज्ञाता थे, यह भीष्म[1] की उक्ति से सिद्ध हो चुका है। साथ ही वे संगीत, चिकित्सा-शास्त्र, अश्व-परिचर्या आदि नाना लौकिक विद्याओं के भी पंडित थे। उत्तरा के मृतप्राय बालक (परीक्षित) को जीवन प्रदान करना, तथा अर्जुन के सारथि बनकर भयंकर युद्धक्षेत्र में अपने रथी की रक्षा करना आदि उदाहरण इन बातों को सिद्ध करने के लिए उपस्थित किये जा सकते हैं। शारीरिक बल और मानसिक शक्तियों का चरम विकास तो उन्होंने किया ही था, आचार की दृष्टि से उनकी बराबरी कोई समकालीन पुरुष नहीं कर सकता था। वे महान् सदाचारी तथा शीलवान् थे। माता पिता की आज्ञा का पालन करने तथा गुरुजनों के प्रति पूज्य भाव रखने की भावना को उन्होंने कभी विस्मृत नहीं किया। वे मादक द्रव्यों अथवा द्यूत क्रीडा जैसे व्यसनों से

---

१. द्र० महा० सभापर्व ३८ वां अध्याय (सं०)

सदा दूर रहे, यहाँ तक उन्होंने समय-समय पर यादवों में ये आदेश प्रचारित किये थे कि यदि कोई व्यक्ति मदिरा पीता हुआ पाया जाएगा तो राज्य की ओर से दण्डनीय होगा। ब्रह्मचर्य और संयम की दृष्टि से कहा जा सकता है कि एक पत्नी-व्रत का दृढ़ता से पालन करते हुए भी उन्होंने सपत्नीक बारह वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य धारण किया। तदनन्तर उनके प्रद्युम्न पुत्र हुआ जो रूप, गुण और सदाचार में सर्वथा अपने पिता के ही अनुरूप था। यह खेद की बात है कि पुराणकारों और कवियों ने श्री कृष्ण के इस उज्ज्वल पहलू को सर्वथा विस्मृत कर दिया और उन्हें कामी, लम्पट, कुटिल तथा युद्ध-लिप्सु के रूप में चित्रित किया।

श्रीकृष्ण संध्योपासना तथा अग्निहोत्र आदि दैनिक कर्तव्यों का पालन करने में भी कभी प्रमाद नहीं करते थे। "महाभारत" में स्थान-स्थान पर उनकी इस प्रकार की दिनचर्या के उल्लेख मिलते हैं। दुर्योधन से संधि वार्ता के लिए जाते हुए मार्ग में जब जब प्रातः सायं समय की उपस्थिति होती है श्री कृष्ण संध्या और अग्निहोत्र करना नहीं भूलते। "महाभारत" में लिखा है :—

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम्
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥

"प्रातः काल उठकर कृष्ण ने दैनिक (संध्याहवन आदि) सब क्रियाय कीं, पुनः ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर नगर की ओर प्रस्थान किया।" इसी प्रकार का एक अन्य उल्लेख है :—

कृत्वा पौर्वाह्निकं कृत्य स्नातः शुचिरलंकृतः।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥

"फिर उन्होंने पवित्र वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो, संध्या-वंदन, परमात्मा का उपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्निककृत्य सम्पन्न किए।"

अब इसे विडम्बना के अतिरिक्त और क्या कहा जाय कि नित्य संध्या-योग (ब्रह्मयज्ञ) के द्वारा सच्चिदानन्द परमात्मा की पूजा करनेवाले देवयज्ञ-रूपी अग्निहोत्र के द्वारा देवताओं का पूजन करने वाले आर्योचित मर्यादाओं के पालक एवं रक्षक आदर्श महापुरुष श्री कृष्ण को साक्षात् ईश्वर कह दिया जाए।

कृष्ण-चरित्र की सर्वोपरि विशेषता उनकी राजनैतिक विलक्षणता और नीतिज्ञता है। राजनीति के प्रति उनका यह अनुराग किसी स्वार्थ भावना से प्रेरित नहीं था और न ही उनकी राजनैतिक विचारधारा

किसी संकुचित राष्ट्रवाद के घेरे में आबद्ध थी। उस युग में तो आज जैसा राष्ट्रवाद जन्मा ही नहीं था। कृष्ण का राष्ट्रवाद तो लोक कल्याण, जन हित करने तथा सब प्रकार की अराजकता, अन्याय तथा शोषण की प्रवृत्ति को समाप्त कर धर्म राज्य की स्थापना के लक्ष्य को लेकर ही चला था। सम्पूर्ण मानव जाति ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के भाव को लेकर ही उन्होंने राजनीति के क्षत्र में प्रवेश किया था।

सर्वप्रथम उनकी दृष्टि अपने जन्म स्थान मथुरा जनपद के स्वेच्छाचारी, एकतन्त्रात्मक शासन के प्रतिनिधि अत्याचारी शासक कंस के ऊपर गई। उन्होंने पारिबारिक और वैयक्तिक सम्बन्धों का विचार न करते हुए जनता के हित को सर्वोपरि समझा और कंस के विनाश में ही सबके कल्याण को देखा। कंस की मृत्यु के पश्चात ही मथुरा वासियों को अपनी सर्वांगीण उन्नति करने का अबसर मिला। श्री कृष्ण का एक कार्य अभी पूरा ही नहीं हुआ था। जरासंध के आक्रमणों का सिलसिला आरम्भ हो गया। कंस के मारे जाने से जरासंध ने यह तो अनुमान लगा लिया था कि अब अधिक दिनों तक आर्यावर्त में अत्याचार, अनाचार तथा स्वेच्छाचार नहीं चल सकेगा, क्योंकि श्री कृष्ण के रूप में एक ऐसी शक्ति का उदय हो चुका है जो सदाचार, धार्मिकता, मर्यादा-पालन तथा जनहित को ही महत्त्व देती है। कंस भी तो आखिर जरासंध का ही जमाता तथा उसी की नीतियों का अनुगामी था। कंस वध की घटना से जरासंध ने अपनी दुर्नीति तथा षड्यंत्र प्रवृत्ति की ही पराजय देखी। वह तुरन्त मथुरा पर चढ़ दौड़ा और एक बार नहीं, सत्रह बार आक्रमण किये। कृष्ण के अपूर्व रणचातुर्य तथा उनके सफल नेतृत्व में यादवों ने जरासन्ध की सेना के दाँत खट्टे कर दिये, परन्तु जब श्री कृष्ण ने ही यह समझ लिया कि शूरसेन प्रदेश सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम नहीं है तो उन्होंने यादव जाति के निवास के लिये द्वारिका जैसे भौगोलिक दृष्टि से सुदृढ़ आवास स्थान को ढूंढ़ निकाला और उसे ही यादवों की राजधानी बनाया। और जरासंध के सेनापति शिशुपाल ने प्रथम तो रुक्मिणी के विवाह क अवसर पर पुनः युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रसंग में कृष्ण को प्रथम अर्घ्य देने के प्रस्ताव को लेकर विवाद खड़ा किया तथा यज्ञ ध्वंस करके कृष्ण के धर्मराज संस्थापन के महज लक्ष्य की पूर्ति में बाधक बना। उस समय कृष्ण ने ही शिशुपाल का बध किया और इस प्रकार "विनाशाय च दुष्कृताम्" से संकेतित दुष्ट जनों के विनाश रूपी महायज्ञ में एक ओर आहुति प्रदान की। जरासन्ध को समाप्त करने का अवसर

तो इससे पूर्व ही उपस्थित हो गया था। ८६ राजाओं को कैद कर तथा इन अभागे राजाओं की संख्या १०० हो जाने पर उनकी बलि कर देने का जो पैशाचिक विचार जरासन्ध ने कर रखा था उसे सहन करना श्री कृष्ण जैसे धर्मात्मा एवं करुणाशील पुरुष के लिए असम्भव हो या। इस दुष्कृत्य को पूरा करने का विचार रखने के कारण जरासन्ध अपने अत्याचारों की चरम सीमा तक पहुंच चुका था और अब उसे अधिक सहन करना सम्भव नहीं था। मनुष्य जाति का ऐसा शत्रु जरासन्ध भी श्री कृष्ण की नीतिमत्ता तथा भीम के शौर्य से मारा गया। उसमें न तो युद्ध ही हुआ और न अनावश्यक रक्तपात।

"महाभारत" के युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, दुर्योधन आदि कौरव पक्ष के सभी महारथी वीरों का एक एक कर अन्त हुआ और इस प्रकार युधिष्ठिर के धर्मराज्य संस्थापन रूपी महायज्ञ की पूर्णाहुति हुई। इस महत कार्य की सिद्धि में श्री कृष्ण का योगदान तो सर्वोपरि था। श्री कृष्ण की इस अपूर्व नीतिज्ञता, रण चातुरी तथा व्यवहार कुशलता को ठीक-ठीक न समझकर उनपर युद्ध-लिप्सु होने का आरोप लगाना अथवा समस्त देशों को युद्ध की भयंकर एवं विनाशकारी ज्वालाओं में झोंककर स्वयं तमाशा देखनेवाला बताना, सर्वथा अनुचित है। श्री कृष्ण ने यथाशक्य युद्ध का विरोध किया, यह हम महाभारतीय युद्ध की आलोचना के प्रसंग में देख चुके हैं। उन्होंने न तो युद्ध को राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का एक मात्र अनिवार्य उपाय माना और न उसमें कूद पड़ने के लिये किसी को उत्साहित ही किया। यहां तक की वैयक्तिक मानापमान की परवाह किये बिना वे स्वयं पाण्डवों की ओर से संधि प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये। यह सत्य है कि इस लक्ष्य को वे पूरा करने में असफल रहे, परन्तु इसमें संसार को यह तो ज्ञात हो ही गया कि महात्मा कृष्ण शान्ति स्थापना के लिये कितने उत्सुक थे तथा युद्ध के कितने विरोधी थे। उन्होंने स्वयं कहा था कि वे पृथ्वी को युद्ध की महाविभीषिका से बचा देखना चाहते हैं।

यह ठीक है कि दुर्योधन ने अपने दुष्ट स्वभाव तथा कुटिल प्रकृति के कारण उनकी बात नहीं मानी, फलतः युद्ध भी अपरिहार्य हो गया, परन्तु लोगों पर यह भी अप्रकट नहीं रहा कि पाण्डवों का पक्ष सत्य न्याय और धर्म का पक्ष था तथा कौरव असत्य, अन्याय और अधर्म का आचरण कर रहे थे। संसार के लोगों को सत्य और न्याय का वास्तविक ज्ञान

कराने में ही श्री कृष्ण को अपूर्व दूरदर्शिता तथा मेधा का परिचय मिलता है। युद्ध होना ही है, जब यह निश्चित हो गया तो श्री कृष्ण की विचार-धारा भी इसी के अनुसार बन गई। फिर तो उन्होने अत्याचार के शमन और दुष्टों को दण्ड देने के लिये किये जाने वाले युद्ध को क्षत्रिय वर्ण के लिये स्वर्ग का खुला हुआ द्वार बताया तथा अर्जुन को यह निश्चय करा दिया कि आततायियों को मार डालना ही धर्म है। रणक्षेत्र में उपस्थित होते ही अर्जुन में जिन क्लीव भावों का संचार हुआ उन्हें अनार्यजुष्ट, अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर बताते हुए श्री कृष्ण ने अर्जुन को विगतज्वर करके युद्ध करने को प्रेरणा दी। वास्तव में क्षात्र धर्म का यही यथार्थ रूप था जिसे कृष्ण ने अपनी ओजस्वी वाणी तथा प्रभाविष्णु शैली में उपस्थित किया। आज हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी श्री कृष्ण की वह ओजस्विनी शिक्षा मन की निराशा, ग्लानि तथा दौर्बल्य को दूर करती है एवं कर्तव्य पालन करने के लिये उठने को प्रेरणा देती है।

यह है कृष्ण की राजनीतिज्ञता का किंचित् दिग्दर्शन! उन्होंने अपने जीवन में जहाँ अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया, वहां उन्होंने सामाजिक समस्याओं की भी अवहेलना नहीं की। श्रीकृष्ण वर्णाश्रम धर्म के प्रबल पोषक और शास्त्रीय मर्यादाओं के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने स्वयं "गीता" में वर्णाश्रम धर्म का विधान करते हुए वर्णों को गुण एवं कर्मों पर आधारित बताया है। उनके अनुसार जो व्यक्ति शास्त्र विधि को छोड़कर मनमाना स्वेच्छाचार करता है, उसे न तो सिद्धि ही प्राप्त होती है और न परलोक में उत्तम गति। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे किसी प्रकार की सामाजिक संकीर्णता अथवा कट्टरता के पोषक थे। अनुदारता गतानुगतिकता तथा रूढिवादिता के वे प्रबल विरोधी थे। उनकी सामाजिक धारणायें उदारतापूर्ण तथा नीति-युक्त थीं। उन्होंने सदा दलित, पीड़ित एवं शोषित वर्ग का ही साथ दिया। विदुर जैसे धर्मात्मा उनके सम्मान के पात्र रहे। नारी वर्ग के प्रति उनकी महती श्रद्धा थी। कुन्ती, गांधारी, देवकी आदि पूजनीय गरीयसी महिलाओं के प्रति उनके मन में सदा आदर, सम्मान तथा श्रद्धा का भाव रहा। सुभद्रा तथा द्रौपदी आदि कनिष्ठ देवियों के प्रति उनका स्नेह सदा बना रहा। वे जानते थे कि मातृ शक्ति का यथोचित सम्मान होने से ही देश की भावी सन्तान में श्रेष्ठ गुणों का संचार होगा।

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के इन पहलुओं की समीक्षा कर लेने के पश्चात् भी उनके चरित के उस महान् एवं उदात्त पक्ष की ओर ध्यान

देना आवश्यक है जिसके कारण वे आध्यात्मिक जगत् के सर्वोत्कृष्ट उप-देष्टा समझे गये और योगेश्वरों में उनकी परिगणना हुई। वे आज भी कोटि कोटि जनों की प्रेरणा, श्रद्धा तथा निष्ठा के पात्र बने हुए हैं। श्री कृष्ण राजनीतिज्ञ थे, धर्मोपदेशक तथा धर्मसंस्थापक भी थे। वे समाज–संशोधक तथा नूतन क्रांति-विधायक भी थे, किन्तु मूलतः वे योगी तथा अध्यात्म-साधना के पथिक थे। उन्होंने जल में रहने वाले कमल की भांति संसार में रहते हुए, सांसारिक वासनाओं से निर्लिप्त रहकर कर्तव्य की भावना से आचरण करने के योग की शिक्षा दी।

वे ज्ञान और कर्म के समन्वय के पक्षपाती थे। साथ ही उपासना योग का भी समर्थन करते थे। ज्ञान, कर्म और उपासना का सामंजस्य ही आर्यचिंतन की विशेषता है और यह समन्वय-भावना ही श्रीकृष्ण के व्य-क्तित्व में साकार हो उठी थी। श्रीकृष्ण स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्म के परम-उपासक थे और इस सर्वोच्च तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् भी वे लोक-मार्ग से च्युत होना अनुचित मानते थे। "गीता" में उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि पूर्णकाम व्यक्ति के लिये यों तो कुछ भी करना शेष नहीं रहता, किन्तु लोक-यात्रा-निर्वाह की दृष्टि से उन्हें भी आर्योचित मर्या-दाओं का पालन करना ही पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने कालान्तर में प्रवर्तित श्रमणवाद-प्रतिपादित निवृत्ति-मार्ग का एकान्ततः अनुसरण करने को अनुचित बताया। श्रीकृष्ण के दर्शन का यही चरम तत्त्व है और यही लौकिक सफलता का भी रहस्य है।

जीवन की इन विविधतापूर्ण एवं सर्वांगीण प्रवृत्तियों का समन्वित अनुशीलन एवं परिष्कार ही श्रीकृष्ण-चरित्र की विशिष्टता है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण जैसा व्यक्ति इस देश में ही नहीं बल्कि संसार में भी कदा-चित् ही जन्मा हो। आर्यमर्यादाओं के अप्रतिम रक्षक राम से उनके विविध व्यक्तित्व की तुलना अवश्य की जा सकती है, परंतु दोनों के युग तथा जीवन की अन्य परिस्थितियों में मौलिक अन्तर था। राम स्वयं आदर्श राजा थे, किन्तु कृष्ण को आदर्श राज्य संस्थापन का कार्य स्वयं करना पड़ा। कृष्ण तो राजाओं के निर्माता, परंतु स्वयं राजसत्ता से दूर रहने वाले साम्राज्य-संस्थापक थे। राम के समक्ष वैसी कठिनाइयां नहीं आई जिनसे कृष्ण को जूझना पड़ा। अतः किसी भी दृष्टि से क्यों न देखा जाय, श्रीकृष्ण का चरित्र एवं व्यक्तित्व भूमण्डल में अद्वितीय ही माना जाएगा।

□

आर्यवर शिरोमणि
भगवान् श्रीकृष्ण

आचार्य वेदव्रत मीमांसक, आर्षगुरुकुल वड्लूर, कामारेड्डी
निजामाबाद (आ. प्र.)

भारत के इतिहास रूपी आकाश में श्रीकृष्ण जाज्वल्यमान नक्षत्र के समान दीखते हैं। उनके जीवन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे असाधारण एवं अनुपम पुरुष थे। इतिहास में उनके समान सर्वाङ्गीण जीवन नहीं दीखता। बाल्यकाल में व्यायाम आदि से उन्होंने अपने शरीर को सुन्दर सुदृढ़ एवं परिपुष्ट बनाया। पश्चात् सान्दीपनि आश्रम में जाकर ब्रह्मचर्य पूर्वक वेद वेदाङ्गों का गूढ़ अध्ययन किया। आगे चलकर सम्पूर्ण जीवन में मनुष्य को मोक्ष प्रदान करने वाली वैदिक परंपरा को जीवित रखने वाले शिथिल आर्य चक्रवर्ती साम्राज्य को अपनी प्रखर बुद्धिमत्ता, विमल वेद ज्ञान, प्रतिभा, प्रभाव, व्यक्तित्व, बल, धैर्य एवं योगमय पुनीत उज्ज्वल जीवन से सुदृढ़ किया। वेदोक्त धर्म का अनुसरण करते हुए उन्होंने अपने जीवन को समुन्नत बनाया। वे महान् बलवान, मल्ल विद्या निपुण, गोभक्त, आदर्शशिष्य एवं पुत्र, वेदशास्त्र पारङ्गत, वेदानुयायी, धर्मज्ञ, कर्मकाण्डी, नीति निपुण, धनुर्वेद विद्या विशारद, राजनीति मर्मज्ञ, कुशल प्रशासक, वीर योद्धा, सफल सारथी, अतुल पराक्रमी, वाग्मी, व्यवहार कुशल, आदर्श ब्रह्मचारी, आदर्श गृहस्थ, योगिराज, तत्त्वज्ञ, आर्य मर्यादा पालक, लोक संग्रही, धीर, उदार, चक्रवती साम्राज्य-स्थापक, रक्षक और अकुण्ठित-धी थे। उनका उदात्त जीवन एवं आदर्श मानव समाज को अत्यधिक प्रेरणा अतीत काल, वर्तमान काल एवं भविष्यकाल में भी देता रहेगा। उनके महान् चरित्र का ही परिणाम यह हुआ कि श्रीकृष्ण को अतिमानव, भगवान् का अवतार भी माना जाने लगा।

श्रीकृष्ण के चरित के सच्च पारखी महर्षि दयानन्द ने श्रीकृष्ण के वास्तविक चरित्र को मानव समाज के समक्ष सबल शब्दों में उपस्थित किया और कहा कि "देखो, श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा।"

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य मनुष्य करते हैं। वह जिसको प्रमाण मानता हो, लोक उसका अनुकरण करता है। यह सत्य है।

आज के युग में भी यदि हम श्रीकृष्ण के वास्तविक जीवन को समझें, तो निश्चित है कि हम उसका अनुकरण अवश्य करना चाहेंगे और करेंगे। यदि श्रीकृष्ण के इस स्वरूप को संसार में फ़ैलावें तो संसार का उद्धार होगा। आज हमारे पतन का एक कारण अपने महान् पुरुषों को यथावत् न समझना, तद्विरुद्ध समझना और उनका अनुकरण न करना है। श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करना इस छोटे से लेख में संभव नहीं है। पुनरपि स्थालीपुलाक न्याय से उनके जीवन की चार घटनाएं महाभारत के आधार पर अति संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं।

(१) अर्जुन श्रीकृष्ण की सम्मति के अनुसार सुभद्रा का हरण करके ले गए। तब यादव गण बलराम आदि सब लोगों ने अर्जुन के इस कृत्य को धृष्टता एवं अपना अपमान समझा। खिन्न होकर अर्जुन के इस कृत्य की निन्दा करते हुए प्रतिक्रिया के रूप में सोचने के लिए एक सभा की। उसमें श्रीकृष्ण की सम्मति मांगी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के द्वारा सुभद्रा-हरण को उचित ठहराते हुए कहा कि— "...प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः" (आदि प० २१३-५)

अर्थ—"अर्जुन ने सुभद्रा का हरण धर्मानुसार किया है।" श्रीकृष्ण जी के मुख से यह सुनकर सब स्तब्ध हुए। सबने मौन होकर उनके मन्तव्य को स्वीकार किया। अर्जुन के प्रति यादवों का रोष समाप्त हुआ। स्थिति शान्त हुई।

(२) द्रौपदी का स्वयंबर होने वाला था। उसमें पांडव ब्राह्मण वेष धारण कर पहुंच गये। लक्ष्य वेध किया। द्रौपदी ने पति का वरण किया।

इस पर क्षत्रिय राजाओं ने आपत्ति की। युद्ध के लिए उद्यत हुए। पाण्डव भी उद्यत हुए। अर्जुन से कर्ण का, भीम से शल्य का युद्ध हुआ। श्रीकृष्ण जी समझ गए कि "यह स्थिति भयंकर रूप धारण कर लेगी। युद्ध होगा। रक्तपात होगा। बड़ा अनर्थ होगा।" इसलिये उन क्षत्रिय राजाओं को यह कहकर निवृत्त किया कि इस ब्राह्मण ने धर्मानुसार ही द्रौपदी को प्राप्त किया है। श्रीकृष्ण के इस कथन का कोई विरोध नहीं कर सका। स्थिति शान्त हुई।

(३) पाण्डव एवं द्रौपदी काम्यक वन में वास कर रहे थे। श्रीकृष्ण जी उनसे मिलने के लिये चले गये। द्रौपदी अपनी विपत्ति की करुण कहानी मार्मिक शब्दों में श्रीकृष्ण को सुनाकर रो पड़ी। उसके उत्तर में द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए श्रीकृष्ण ने जो जो कुछ कहा उसका सारांश इस प्रकार है—"उस समय मैं द्वारिका में अथवा उसके आस पास नहीं था। द्वारिका आते ही सात्यकि से दुःख ग्रस्त आपके विषय में सुना है। यह सुन उद्विग्न होकर आप लोगों को देखने के लिए तुरन्त यहाँ आया। यदि मैं उस समय द्वारिका में होता तो धृतराष्ट्र, दुर्योधन और कौरवों के न बुलाने पर भी द्यूत स्थान में पहुँचता। द्यूत के अनर्थों को बतलाता और रोकता। यदि न मानते तो धृतराष्ट्र को पकड़ लेता। यदि उस समय उनकी ओर से कोई आते तो उनको मार डालता।

(४) जब राजसूय याग में अभिषेक के दिन महर्षि, ब्राह्मण एवं राजा लोग अन्तर्गृह में प्रविष्ट हुए, तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सर्व प्रथम किसकी पूजा हो। तब पितामह भीष्म ने श्रीकृष्ण का नाम प्रस्तुत किया। उसको प्रस्तुत करने के कारण को बतलाते हुए उन्होंने कहा[1]...

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनाँ क्षत्रियाणां बलाधिकः।
पूज्ये ताविह गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥१७॥

अर्थ—ब्राह्मणों में ज्ञानवृद्ध क्षत्रियों में अधिक बलशाली पूजार्ह होता है। पूजनीय गोविन्द में ज्ञानवृद्धता और बलवृद्धता दोनों ही विद्यमान हैं।

वेद वेदाङ्ग विज्ञानं बलं चाप्यमितं तथा।
नृणां हि लोके कस्यास्ति विशिष्टं केशवादृते ॥१८॥

अर्थ—श्रीकृष्ण में वेद वेदाङ्गों का विज्ञान तथा अपरिमित बल है। संसार में उनसे अधिक ज्ञानवान् और बलवान् कौन है?

---

१. द्र० महा सभापर्व ३८।१७-२८ (सं०)

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिबुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते ।।१९।।

अर्थ—दान, दाक्षिण्य, शास्त्र ज्ञान, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, नम्रता, शोभा, धैर्य, तुष्टि और पुष्टि आदि गुण श्रीकृष्ण में निश्चित रूप से हैं।

तमिमं सर्वसम्पन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्च्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संमन्तुमर्हथ ।।२०।।

अर्थ—ऐसे सर्व गुण सम्पन्न आर्य, पिता, पूजित एवं पूजा के योग्य श्रीकृष्ण का सम्मान करना चाहिए ।

ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः ।
सर्वमेद्धृतषीकेशे तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ।।२१।।

अर्थ—ऋत्विक्, गुरु, कन्यादान से सत्कार्य, स्नातक, राजा और मधुर स्वभाव वाले ये सारे गुण जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण में हैं। अतः उनकी पूजा की है।

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नार्हम्मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ।।२८।।

अर्थ—बालकों, वृद्धों, राजाओं और महात्माओं में ऐसा कौन है जो श्रीकृष्ण को पूजा के योग्य न मानता हो अथवा उनकी पूजा न करता हो।

अग्र पूजा के समय ऋषि, मुनि, वेदज्ञ, ब्राह्मण, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, राजे, महाराजे आदि के होते हुए भी भीष्म ने श्रीकृष्ण को पूजनीयतम सिद्ध किया। इससे सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व अपने युग में कितना उत्कृष्ट था और उनका कितना सम्मान था। उनके पूजनीय, पक्षपात रहित, दूरदृष्टिपूर्ण, पाण्डित्यपूर्ण पावन जीवन से लोग किस प्रकार परिचित थे और प्रभावित थे।

धन्य हैं श्रीकृष्ण और धन्य हैं ऋषि दयानन्द, जिन्होंने श्रीकृष्ण जी के जीवन को यथार्थ में समझा और उनके उत्तम चरित्र पर पड़ी कालिमा तुल्य कलंक-पंकों को धोकर उनके विमल चरित्र को हजारों वर्षों के पश्चात् संसार के समक्ष उपस्थित किया। सत्य ही कहा है—हीरों की परख कोई बिरला जौहरी ही कर पाता है।

□

आज हम भी एक मित्र का वर्णन करने चले हैं, जो वास्तव में वेद की मित्र की परिभाषा तथा भर्तृहरि के लक्षण को सार्थक करते हैं, लोक में प्राय: देखने में आता है कि धन, वैभव, पद या प्रतिष्ठा आदि में बढ़े हुए मित्र से जब अपना मित्र मिलने पहुंचता है तो उसे उपेक्षा मिलती है, ऐसा ही जब एक मित्र जब अपने मित्र से मिलने गया तथा मित्र ने उससे पूछा कि आप कहाँ से तथा किसलिये आये हैं तो उसने खीझ कर कहा कि हूं तो मैं अमुक व्यक्ति, जिसे आप कभी मित्र कहा करते थे तथा आया इसलिए था कि सुना था कि आपको कम दिखने लगा है किन्तु यहाँ आकर देखा कि आप तो बिल्कुल अन्धे ही हो गए हैं। द्रुपद ने भी तो द्रोण से कहा था कि राजा और भिक्षुक को मैत्री कैसी ? मैत्री तो समान लोगों के साथ होती है।

किन्तु आज तो हम एक विचित्र मित्र की कथा सुनाने चले हैं, द्वारिका के राज भवन के द्वार पर एक भिक्षुक खड़ा है, दरिद्रता की साक्षात् मूर्ति, न सर पर पगड़ी है न शरीर पर कुर्त्ता, धोती भी मैली तथा स्थान-स्थान से फटी हुई है, पैरों में जूते भी नहीं, चकित दृष्टि से सारे सौन्दर्य की ओर निहार रहा है, उसे उसकी पत्नी ने भेजा है, घर दरिद्रता का वास था। बालकों का पेट भी न भरता था। गृहस्थी अपने दु:ख को सह लेता है किन्तु सन्तान का दु:ख उसे असह्य हो जाता है। पर्वत सा प्रताप भी डगमगा गया था सन्तान की भूख के आगे फिर वह बेचारी तो स्त्री थी। उसके सामने बातों ही बातों में एक दिन उस दरिद्र ब्राह्मण ने बचपन में अपनी कृष्ण से मित्रता की बात कह दी थी। फिर क्या था, वह लगी प्रतिदिन उसे कृष्ण के पास जाकर कुछ लाने के लिये बाधित करने। वह टालता रहता था। वास्तव में उसके सम्मुख द्रोण का दृश्य आ जाता था। वह सोचता था कि यदि कृष्ण ने मुझे अपमानित करके निकाला तो जीवन भर का सम्मान क्षण भर में नष्ट हो जाएगा-मैंने जीवन में केवल सम्मान' रूपी धन ही तो संजोया है। न तो मेरे

---

(१) सच्चे एवं निर्धन ब्राह्मण की स्वाभिमानवृत्ति एक कवि के शब्दों में पढ़िये—

शिक्षक हों सगरे जग के प्रिय ताको कहा अब देती है शिक्षा :
जो तपते परलोक सुधारत सम्पत्ति की, तिनको नहीं इच्छा ॥
मेरे हिय हरि के पद-पंकज बार हजार, न देखूं परीच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरी ब्राह्मण का, धन केवल भिक्षा ॥

[कविवर नरोत्तमदास] [सं०]

श्रीकृष्ण की आदर्श मित्रता

आचार्य सत्यव्रत राजेश,
प्राध्यापक गुरुकुल कांगड़ी, वि० वि० हरिद्वार

विश्व की दुर्लभ वस्तुओं में एक सच्चा मित्र भी है, संसार में दावत खाने तथा दावत खिलाने वाले बहुत लोग हैं जो अपने को मित्र बतलाते हैं, अनेक युवक जो घर से पवित्र जीवन लेकर कालिज गये थे जब अनेक व्यसनों में फँसकर घर आते हैं तथा उनसे पूछा जाता है कि उसे वे व्यसन कहाँ से लगे तो वह मित्रों का नाम लेते हैं, ऐसे मित्रों को मित्र कहते भी लज्जा आती है, वेद माँ ने तो कहा था—'सखा सखायं व्यतरद् विषूचीः मित्र वह है जो मित्र को विषमता से पार कर दे, विषम परिस्थितियों में सहयोग करके उनसे निवृत्त कर दे, कहाँ वेद की यह उच्चता तथा कहाँ आज का निकृष्ट मित्रों का वातावरण। इन विषमताओं का चित्रण करते हुए ही कदाचित् भर्तृहरि ने नीति शतक में मित्र के लक्षण लिखते हुए कहा था—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं न जहाति ददातिकाले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात् मैत्री विषय के विशेषज्ञ मित्र के ये लक्षण बताते हैं—

(क) वह अपने को पाप के कार्यों से सदैव बचाता है।

(ख) हितकारी कार्यों में लगाता है।

(ग) उसकी गुप्त रखने योग्य बातों को गुप्त रखता है।

(घ) अपने मित्र के गुणों का सर्वत्र बखान करके उन्हें सबके सामने प्रकट करता है।

(ङ) आपत्ति में पड़े मित्र को कभी छोड़ता नहीं तथा

(च) समय पड़ने पर उसकी सहायता करता है।

पास विपुल संपदा, किन्तु लोग सम्मान से सर तो झुकाते हैं। वही सर जो सदा ऊंचा रहा, क्या पेट के लिये कृष्ण के सामने झुका दूं। फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि वह उस झुके सर का उचित मूल्य आँके या न आँके, कौन जाए इतनी लम्बी यात्रा करके संदिग्ध कार्य के लिये। क्या मैं कृष्ण की उपेक्षित दृष्टि को सह पाऊंगा। टूट जाएगी जीवन भर की आस्था भी, कि कृष्ण मेरे मित्र थे। मुझे नहीं जाना किसी को द्वारिका। किन्तु पत्नी भी विदूषी थी। उसने समझाया कि ब्राह्मण तो अपमान को अमृत समझता है। फिर आप कृष्ण से कुछ भी न मांगना। वे दें तो भी न लेना। केवल उनसे मिल हो आना। कैसा है आपका हृदय जो अपने परमस्नेही सखा से भी मिलने की इच्छा नहीं रखता। मुझे तो मेरी सखियाँ सदा याद रहती हैं तथा उनसे मिलने के लिये मन सदैव ललचाता रहता है। पत्नी का यह तीर निशाने पर बैठा तथा सुदामा का मैत्री भरा हृदय कृष्ण से मिलने के लिये बालक की भाँति मचल उठा बहुत दिन मिले हो गए चलो मिल ही लें। प्रेम तथा सम्मान न सही मित्र दर्शन तो मिल ही जाएगा। और इसी अभिलाषा से अनेक कष्ट सहकर यह दरिद्र ब्राह्मण द्वारिका पहुंचा है। उसकी अवस्था पाठक पूर्व ही देख चुके हैं।

द्वारिका की राजसभा भवन के सामने सुदामा खड़ा है। मन में अनेक संशय आते जाते रहते हैं। कभी सोचता है कि कृष्ण से मिलने के लिये द्वारपाल से कहूं तथा तुरन्त मन में भाव आता है कि कृष्ण अपने राज्य कार्यों में तथा राज्य सुखों में व्यस्त एवं लिप्त होंगे। उनके पास इतना समय कहाँ है जो मेरे लिये मिलने का समय निकाल सकें। चलो कभी कहीं भ्रमण आदि के लिये जायेंगे तो दूर से दर्शन कर लूंगा। फिर मन कहता कि ऐसे तो बहुत समय बीत सकता है। न जाने कब वे बाहर काम से निकलें। निकलें भी तो यह क्या पता किस द्वार से निकलें। चारों ओर ही तो द्वार हैं राजसभा भवन के। अतः द्वारपालों से सूचना भिजवा देता हूं इच्छा हो तो मिल लेंगे अन्यथा चला जाऊंगा वापस अपने गाँव। यह तो देख ही लिया है कि कृष्ण सुखी है यही क्या मेरे लिये कम हर्ष तथा सन्तोष की बात है। इसी ऊहापोह में पड़े हुए पर्याप्त समय से खड़े उसे देखकर द्वारपाल ने कहा कि महाराज फिर कभी आना। इस समय हमारे महाराजा राज्य कार्यों में व्यस्त हैं यह दान का समय नहीं है। द्वारपाल की बात सुनकर सुदामा का साहस बढ़ा तथा

बड़े संकोच के साथ उसने द्वारपाल से कहा कि मैं भिक्षा या दान माँगने के उद्देश्य से नहीं आया हूं अपितु श्री कृष्ण जी मेरे बाल सखा हैं मैं उनसे मिलने के लिए आया हूं। द्वारपाल ने उन्हें सर से पैर तक देखा तथा मन में सोचा कि ये व्यक्ति कहीं महाराजा से मिलने का बहाना तो नहीं बना रहा। किन्तु उनके मुख पर अडिग विश्वास देखकर उसने विचारा कि यदि यह वस्तुतः ही महाराजा के मित्र हुये तथा इन्होंने उन्हें बतलाया कि मैंने इनके कहने पर भी आप से इन्हें नहीं मिलाया तो महाराज अप्रसन्न होंगे। अतः वह अन्दर गया तथा श्री कृष्ण से निवेदन किया कि महाराज द्वार पर एक व्यक्ति खड़ा है। है कृशकाय तथा दरिद्र। आपसे मिलना चाहता है तथा अपना नाम सुदामा बतलाता है। क्या उसे अन्दर आने दिया जाए। किन्तु आश्चर्य "सुदामा" इन तीन अक्षरों में क्या जादू था कि द्वारपाल से पहले द्वारिकाधीश दौड़ पड़े नंगे पाँव। धरी रह गई राज्य की सब मर्यादाएं और व्यवस्थाएं। और बाहर आकर द्वारपाल ने देखा महाराज कृष्ण उस दीन से लगने वाले व्यक्ति से गले लगकर मिल रहे हैं तथा रो रहे हैं। हिचकियों के बीच निकले शब्द द्वारपाल ने सुने महाराज कृष्ण जी कह रहे हैं, "सुदामा क्या आपको मुझ पर विश्वास नहीं था जो इतने कष्ट सहते रहे तथा मुझे सूचित न किया। क्या मैं आपका वही पुराना मित्र नहीं हूं जो गुरु गृह पर साथ-साथ पढ़ते तथा गुरु सेवा करते थे। मुझे भी धिक्कार है जो राज्य कार्यों में इतना व्यस्त हो गया था कि अपने मित्र को भी भुला बैठा, सुदामा क्या मुझे क्षमा नहीं करेंगे? और वह दीन सा लगने वाला दरिद्र ब्राह्मण अपने को इन्द्र सा गौरवान्वित समझ रहा था। भूल गया था अपनी आर्थिकस्थिति। नंगे सिर, नंगे पैर, नंगे तन तथा फटी धोती को, जब उसने देखा कि सिंहासन पर उसे बैठाकर नरेन्द्र कृष्ण उसके पैर धो रहे हैं, रुक्मिणी जल डाल रही है तथा काँटों और बिवाई से भरे उसके पैरों पर जल के साथ ही साथ उसके बाल सखा कृष्ण के आँसू भी गिर रहे हैं।

रानी तथा राज्याधिकारी चकित थे कि अहर्निश राज्य कार्यों में डूबे कृष्ण अपने मित्र के पास, जहाँ उन्हें ठहराया था, जाकर घंटों घुल-मिल कर बातें करते रहते थे मानो वे बातें राज्य कार्यों से भी आवश्यक हों। दोनों सटकर बैठे होते तथा हंसी से राज्यातिथि गृह गूंज उठता। सुदामा को लगता कि वह संसार के दुःख द्वन्द्वों से दूर एक ऐसे स्थान पर आ गया है जहां न चिन्ता है, न दुराव और न अपनत्व की न्यूनता।

उसे वापिस अपने घर आने पर आश्चर्य हुआ कि वह अपने मन में कृष्ण से कुछ न मांगने के जिस गौरव को संजोए था वह भी उसकी कल्पना मात्र थी, उसका घर झोंपड़ी न था किन्तु उसके स्थान पर द्वारिका के राज्य भवन से भी सुन्दर अट्टालिका थी तथा वस्त्राभूषणसज्जिता उसकी पत्नी उसे नीचे खड़ा देखकर दौड़कर नीचे आकर उसके चरण स्पर्श कर रही थी एवं कृष्ण को प्रशंसा करते न अघाती थी। यह था श्री कृष्ण की मित्रता का सच्चा आदर्श।—

'आपद्गतं न जहाति, ददाति काले'।

यह (योगेश्वर श्री कृष्ण) अंक अगस्त-सितम्बर मास का है। पाठक कृपया नोट करें। पृष्ठ २ पर तथा अन्तिम पर केवल अगस्त छपा है।

क्या वेदों में श्री कृष्ण का वर्णन है ?

(डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाह, गीता श्रम ज्वालापुर, हरिद्वार)

आजकल के पौराणिक वेद संहिताओं से कृष्ण जी को ईश्वरावतार सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। वेदों में 'कृष्ण का नाम आता है परन्तु वेदों में रूढ़ि शब्द नहीं हैं, वरन् सभी शब्द यौगिक हैं। पौराणिकों की यह क्लिष्ट कल्पना है कि वेदों में महाभारत कालीन कृष्ण की चर्चा है। इस विषय में एक मन्त्रार्थ पर यहाँ विचार किया जाता है—

"अहश्च कृष्णमहर्रर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेधाभिः। वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि"— (ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ९ मन्त्र १)

पौराणिक विद्वान पं० माधवाचार्य शास्त्री ने अपनी पुस्तक "दूध का दूध पानी का पानी" के पृष्ठ ४८ में इस मन्त्र का थोड़ा अंश देकर "श्री कृष्ण का अर्जुन में गर्भाधान" सिद्ध करने का कुप्रयास किया है।

मन्त्र में 'कृष्ण' व 'अर्जुन' का पाठ आ जाने से महाभारत कालीन कृष्ण व अर्जुन का वर्णन समझना पौराणिकों का भ्रम मात्र है। वेदों में कोई अनित्य इतिहास नहीं है। इस मन्त्र की व्याख्या रखने से यही स्पष्ट होता है कि यहाँ मन्त्र में 'दिन' व 'रात्रि' की ही चर्चा है।

[१] **महर्षि दयानन्द जी सरस्वती**—पदार्थ—(अहः) दिनम् [च] [कृष्णम्] रात्रिः [अहः] व्याप्तिशीलम् [अर्जुनम्] ऋजुगत्यादिगुणम् [च] [वि] विरोधे [वर्त्तते] [रजसी] रात्र्यहनी (वेद्याभिः) वेदितव्याभिः (वैश्वानरः) विश्वस्मिन् नरे नेतव्ये प्रकाशमानः [जायमानः] उत्पद्यमान इव (राजा) (अव) (अधिरत्) तरति [ज्योतिषा] प्रकाशेन [अग्निः] [तमांसि] रात्रीः।

भावार्थ—अत्रोपमालं० यथा रात्रिदिने संयुक्ते वर्त्तेते तथैव राजा

प्रजे अनुकूले भवेतां, यथा सूर्यः प्रकाशेनऽन्धकारं निवर्त्तति तथैव राजा-विद्याविनय प्रकाशेनाऽन्धकारनिवर्त्तयेत् ।

पदार्थ—हे मनुष्यों! [अहः] दिन [कृष्णम्] रात्रि [च] और अह्नः व्याप्तिशील (अर्जुनम्) सरलगमन आदि गुणों को [च] भी (रजसी) रात्रि दिन [विद्याभिः] जानने योग्यों के साथ [विवर्त्तते] विविध प्रकार वर्त्तते हैं और [राजा] राजा के (न) समान [जायमानः] उत्पन्न हुआ [वैश्वानरः] सम्पूर्ण करने योग्य कार्यों में प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि [ज्योतिषा] प्रकाश से (तमांसि] रात्रियों का (अव अतिरत्) उल्लंघन करता है।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालं०—जैसे रात्रि दिन संयुक्त हैं वैसे ही राजा और प्रजा अनुकूल हों...... ।[1]

[२] पं **जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ** ने भी 'कृष्ण' का अर्थ 'रात्रि' व 'अर्जुन' का अर्थ 'दिन' ही किया है।

(३) **श्री सायणाचार्य**—आहरति पुरुषोऽस्मिन कर्माणीति अहः। कृष्णं कृष्ण वर्णम्। एतत्सामानाधिकरण्यादहः शब्दो रात्रिवचनः। तमसा कृष्ण वर्णा रात्रिः अर्जुनं च सौरेण तेजसा शुक्ल वर्णम् अहः दिवसश्च रजसी स्वस्वभासा सर्वं जगद्रञ्जयन्तौ वेद्याभिः वेदितव्याभिरनुकूलतया ज्ञात व्याभिरनुकूलतया ज्ञातव्याभिः विवर्त्तते विविधं पर्यावर्तेते।...[2]

अर्थात अहः शब्द का अर्थ यह है कि 'जब मनुष्य कार्य करता है, 'कृष्ण शब्द का अर्थ काला है। चुंकि दोनों एक साथ आ गए हैं अतः कृष्ण का अर्थ रात्रि हुआ। अन्धकार के कारण रात्रि 'काली' होती है और सुर्य के तेज के कारण दिन सफेद होता है। दिन और रात्रि अपने प्रकाश के कारण सम्पूर्ण संसार को प्रसन्न करते हैं और भली भाँति जाना जा सकने योग्य अपनी क्रियाओं के द्वारा विविध कर्मों को करवाते हैं।

[४] **श्री माधव भट्टेन वैङ्कटार्य सूनुना**— "अहश्च। अहः। कृष्ण

---

१. "ऋग्वेद भाष्यम्" षष्ठमण्डलम् [अष्टम भागात्मकम्] पृष्ठ १०३५-१०३६ [संवत १९५२ वि० वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में मुद्रित]

२. "ऋग्वेदसंहिता श्रीमत्सायणाचार्य विरचित भाष्यसमेता, ६, व मण्डलात्मक" [सन् १८४१ ई० (सके १८६३) में वैदिक संशोधन मण्डल, पूणे द्वारा प्रकाशित] पृष्ठ २८

वर्णम् । अहः । श्वेतवर्णम् । चेत्याहोरात्रे वदति । ते विवर्तेते । ते विवर्तेते तेजसा तमसा च । रञ्जके । वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः इति यास्कः । वैश्वानरः । जायमानः इवोद्यम् । आदित्यः । सर्वेषां ज्योतिषा । विनाशयति । अग्निः । तमांसि ।"

और वे 'कृष्ण' शब्द पर पाद टिप्पणी में लिखते हैं—

"१४ कृष्णं कृष्ण वर्णम् । एतत्सामानाधिकरण्यादहः शब्दो रात्रि वाचकः तमसा कृष्ण वर्णा ।

अर्थात कृष्ण का अर्थ काला, रात्रिवाचक है ।

'अर्जुन' शब्द पर पाद टिप्पणी—

"१६ श्वत P. सौरेण तेजसा शुक्लवर्णम् Sy. अर्जुन शब्दो हि शुक्ल पर्यायः Dur. अर्जुन सब्दो रूपनाम् ।...

अर्थात—'अर्जुन' का अथ शुक्ल (श्वेत) है । अर्जुन व शुक्ल शब्द पर्यायवाची हैं ।

(५) यही मन्त्र निरुक्त २।२२ में भी आया है जहाँ 'रात-दिन अर्थ किया है ।

इसी प्रकार वेदों में जहां भी 'कृष्ण' शब्द आए हैं वहां इनके यौगिक अर्थ हैं ।

(६) पं० रघुनन्दन शर्मा 'साहित्य भूषण' ने भी 'वैदिक सम्पत्ति' में महाभारत कालीन प्रायः सभी व्यक्तियों के नामों को वेदों से प्रदर्शित करके उनका यौगिक अर्थ किया है । अतः वेद पठित 'कृष्ण' शब्द से देवकी पुत्र कृष्ण का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता ।

भगवान कृष्ण ने स्वयं को ईश्वरावतार मानने वालों को मूर्ख बतलाया है—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
(गीता० ७:२४)

---

१. "ऋगर्थ दीपिका" पृष्ठ ४६५-४०६ [डा० श्री लक्ष्मण स्वरूप जी एम० ए०, डी० फिल० द्वारा सम्पादित । चतुर्थ भाग, श्री मोतीलाल बनारसी दास बाराणसी द्वारा सन् १९५५ ई० में प्रकाशित]

सर्वव्यापक ईश्वर के विकार रहित सर्वश्रेष्ठ परमात्मा रूपी भाव को न जानते हुए मुर्ख लोग मुझे शरीरधारी को परमात्मा समझते हैं।

'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८।६६)

इस श्लोक का पौराणिक अर्थ करते हैं कि श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम सब धर्मों को छोड़कर मेरे शरण में आ जाओ। मैं सर्व-पापों से छुटकारा दिला दूंगा, शोक मत कर। पर यह अर्थ अशुद्ध है। इस श्लोक में क्या वास्तविक अर्थ 'सर्वधर्मान्' से 'शकन्ध्वादिषु' पररूपं वाच्यम् व्याकरण के नियमानुसार अधर्मान्' अर्थ लेना चाहिए।

अतः गीता से ही कृष्णचन्द्रजी ईश्वर के अवतार सिद्ध नहीं होते हैं।

---

१. पं० लेखराम कृत जीवन चरित्र में महर्षि दयानन्द कृत इस श्लोक की व्याख्या।

षोडश कलावतार श्रीकृष्ण

(आचार्य वीरेन्द्र मुनिशास्त्री एम० ए०, काव्यतीर्थ
उपाध्यक्ष विश्ववेदपरिषद्, सी ८१७ महानगर, लखनऊ)

वि० सं० २०४६ के भाद्रपद कृष्णा ८ से श्रीकृष्ण संवत् ५२१५ आरम्भ होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ५२१४ वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। इतने वर्षों से बराबर उन्हें स्मरण करते रहने का कारण उनका महापुरुष होना है।

पौराणिकों ने उन्हें विष्णु का अवतार और वह भी १६ कलाओं वाला, अलङ्कार रूप में, बताया। यह काव्य की अतिशयोक्ति है। ईश्वर का अवतार कदापि नहीं हुआ और न हो सकता है। वह एकदेशी (कहीं स्थानविशेष पर स्थित) नहीं है, सर्वव्यापक है अतः कहीं से उतर कर पृथिवी पर जन्म नहीं लेता। आश्चर्य है कि इधर तो अवतार माना और उधर नीचे गिराकर 'चोर-जार-शिरोमणि' भी कह दिया। ये दोनों बातें कितनी असत्य हैं?

षोडश कलावतार का अर्थ १६ ईश्वरीय गुणों को धारण करने वाला महापुरुष है। इसका सूत्र यजुर्वेद का निम्नलिखित मन्त्र है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
(अ० ८, मन्त्र ३६)

यहाँ परमात्मा को षोडशी (१६ कला वाला) इसलिए कहा गया है क्योंकि वह १६ कलाओं (गुणों) से युक्त या उनको बनाने वाला है। साधारण जन नहीं जानते कि वे १६ कलाएँ कौन सी हैं। इनका स्पष्टीकरण प्रश्न उपनिषद् (६. २. ४) में तथा केवल उपनिषद् में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (४. २५ और १.४६) में है किन्तु वहाँ नाम कुछ भिन्न हैं। १६ कलायें जिसने बनायीं, जिसमें हैं, जिसकी हैं या जिससे हैं वह परमात्मा

१६ कलाओं की विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत तालिका

	प्रश्नो प. ६।४	य.भा. ८।३६	य.भा. ३२।५	ऋ भा. भू वेद विषय विचार	आर्या. २।१४	जै. उ. ब्रा. ४।२४	जै ३ ब्रा १।४६
१	प्राण	इच्छा	प्राण	ईक्षण	ईक्षण	सत्	भद्र
२	श्रद्धा	प्राण	श्रद्धा	प्राण	प्राण	असत्	समाधि
३	आकाश	श्रद्धा	आकाश	श्रद्धा	श्रद्धा	असत्	आभूति
४	वायु	आकाश	वायु	आकाश	आकाश	सत्	सम्भूति
५	ज्योति	वायु	अग्नि	वायु	वायु	वाक्	भूत
६	जल	अग्नि	जल	अग्नि	अग्नि	मनः	सर्व
७	पृथिवी	जल	पृथिवी	जल	जल	मनः	रूप
८	इन्द्रिय	पृथिवी	इन्द्रिय	पृथिव	पृथिवी	वाक्	अपराजित
९	मन	इन्द्रिय	मन	इ न्द्रय	इन्द्रिय	चक्षु	श्री
१०	अन्न	मन	अन्न	मन (ज्ञान)	मन (ज्ञान)	श्रोत्र	यशः
११	वीय	अन्न	वीय	अन्न	अन्न	श्रोत्र	नाम
१२	तप	वीर्य	तप	वीर्य	वीर्य।	चक्षुः	अग्र
१३	मन्त्र	तप	मन्त्र	तप	तप	श्रद्धा	सजात
१४	कर्म	मन्त्र	कर्म	मन्त्र	मन्त्र	तपः	पयः
१५	लोक	लोक	लोक	कम	कर्म लोक	तपः	महीयस्
१६	नाम	ना म	नाम	नाम	लोकों में नाम	श्रद्धा	रस

उपर्युक्त चित्र में देखने से यह स्पष्ट होता है कि

'षोडशी' कहाता है। जो भक्त योगिराज इनका प्रयोग करता, धारण करता है वह भी षोडशी (१६ कला वाला) कवियों द्वारा वर्णित किया गया है। लोगों ने भ्रम से उसे विष्णु का अवतार बना दिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन १६ कलाओं का वर्णन १. आर्याभि-विनय, २. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (वेद विषय विचार) ३. यजुर्वेद भाष्य (८.३६ तथा ३२.५) में किया है। यजुर्वेद भाष्य (३२.५) 'ईक्षण' के स्थान पर 'लोक' शब्द मिलता है। लोकृ दर्शने धातु से बने लोक शब्द का अर्थ दर्शन=ईक्षण भी है। उनकी आगे तालिका प्रस्तुत की जाती है—

(१) यजुर्वेद-भाष्य (३२।५) तथा प्रश्नोपनिषद् की १६ कलाओं में कोई भेद नहीं है।

(२) जैमिनि उपनिषद् की दोनों स्थानों की १६ कलाओं में प्रश्नोप-निषद् से भिन्नता है।

(३) केनोपनिषद् में प्राण से पूर्व 'दक्षिण' का निर्देश तो अवश्य है, किन्तु उसकी १६ कलाओं में गणना नहीं है।

[४] य० भा० [८।३६], ऋ० भा० भू० तथा आर्याभिनय में प्राण से पूर्व इच्छ व ईक्षिण का समान रूप में निर्देश मिलता है परंतु इच्छा व ईक्षिण की वृद्धि होने से १६ संख्या की पूर्त्ति के लिए म० भा० ८।३६ में कर्म को और ऋ० भा० भू० में लोक को छोड़ा है।

[५] आर्याभिविनय में लोक तथा लोकों के नाम को इकट्ठा ही पढ़ा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। अन्यथा एक संख्या की वृद्धि होने से १६ संख्या की पूर्ति न हो सके।

[६] और ऋषि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों में कुछ भेद के साथ पर्याप्त समानता है।

१. श्रीकृष्ण में अद्भुत 'ईक्षिण' [निरीक्षण] तथा लोक दर्शन की शक्ति थी। कौन, कहाँ, क्या कर रहा है, कब, किसको क्या करना चाहिए इसका ध्यान रहता था।

२. उनमें 'प्राण' शक्ति अत्यन्त प्रबल थी। वे प्राणायाम योग किया करते थे।

३. उन में वेद शास्त्रों, ईश्वर धर्म, गुरुओं के प्रति अटूट 'श्रद्धा' थी।

४. ५. वे 'आकाश' में वायुयान से विचरण करते थे।

६. वे अग्नि विद्या जानते थे और अग्निहोत्र करते थे।

७. वे जल में तैरना जानते थे। यमुना और समुद्र तट पर निवास करते थे, जलक्रीड़ा करते और जल पोतों का संचालन करते थे।

८. वे पृथ्वी पर मल्ल विद्या का अभ्यास करते थे। पृथ्वी के राजा उनको पूज्य समझते थे।

९. वे इन्द्रियों के विजेता थे। उनका ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मन पर संयम था।

१०. वे 'मन' को वश में कर ज्ञान पूर्वक कार्य किया करते थे।

११. वे 'अन्न' का उत्पादन और सदुपयोग किया करते थे।

१२. वे 'वीर्य' की रक्षा करने वाले ब्रह्मचारी थे। केवल एक रुक्मिनी के साथ विवाह कर केवल एक ही सन्तान उत्पन्न की।

१३. वे 'तपः' करने वाले, धर्म के लिए कष्ट सहने वाले तपस्वी थे।

१४. वे 'मन्त्रों' को जानते थे, ज्ञानपूर्वक गुप्त भाषण में चतुर थे।

१५. वे सदा 'कर्म'-निष्ठ होकर कार्य करते थे, सुकर्म ही करते थे, सच्चे कर्मयोगी थे, अकर्मी रहकर निष्कर्म (निकम्मे) नहीं रहे। उनका प्रेरक वेद मन्त्र था—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईश उपनिषद् मन्त्र २। यजु० ४०.२)

गीता में उनका सिद्धान्त निम्नलिखित है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

१६. उनका 'नाम' कृष्ण (आकर्षक तथा श्याम वर्ण) यथार्थ था। उन्होंने तत्कालीन जनता को आकर्षित किया, आज भी हम सभी को आकर्षित कर रहे हैं। इन्हीं १६ गुणों के कारण उन्हें षोडश कलावतार कहा गया। जे०उ० ब्राह्मण की १६ कलाओं के अनुसार वे सत्-असत् के विवेचक, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र को वश में रखने वाले थे। उनमें तप और श्रद्धापूर्ण थी, वे भद्र (कल्याणकारी) हाथ के लिये कार्य की समाप्ति करने वाले, आभूति सम्भूति, युक्त, भूत मात्र के हितैषी, सर्व (सहस्र) कार्य करने की शक्ति वाले, रूपवान, अपरिमित श्री यश रखने वाले, समान रूप से प्राणियों के लिए दूध के समान शीतल, रस युक्त वाणी वाले महापुरुष थे। इसीलिये उन्हें १६ कला महापुरुष कहा गया है।

सदा विजेता धर्मरक्षक श्रीकृष्ण

(प्रा० भद्रसेन, साधु आश्रम, होशियारपुर)

'दयानन्द सन्देश' का यह विशेषांक जन्माष्मी के शुभ अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। यह पावन पर्व योगेश्वर श्री कृष्ण की स्मृति में मनाया जाता है। श्री कृष्ण को भगवान मानने वाले भी इस शुभ अवसर को जन्माष्टमी के रूप में स्मरण करते हैं। जिसका सीधा-सा भाव है, कि उस महान आत्मा ने इस तिथि को भारत की पुण्यधरा पर जन्म लिया था। उन्होंने भी अन्यों की तरह अपनी बाल-सुलभ क्रिड़ाओं से परिजनों को प्रमोदित किया और सान्दीपनि के आश्रम में शिक्षा प्राप्त की। यथा समय कंस की क्रूरता को समाप्त किया, जरासन्ध के अन्याय अत्याचार को जड़ से उखाड़ा और द्वारिका में अपने राज्य की स्थापना की। सबसे बढ़कर पाण्डवों को कौरवों की क्रूरता से बचाने के लिए उनके सर्वस्व बने।

ये सारी घटनायें श्री कृष्ण की महत्ता को दर्शाती हैं, कि उन्होंने किस प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी अन्याय से जूझते हुए इस गौरव को प्राप्त किया। जन्माष्टमी का जन्म शब्द जन्म से जुड़ी हुई सभी बातों की ओर स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करता है। माता-पिता शरीर उसकी क्रमशः परिवर्तनशील स्थिति—आवश्यकतायें आदि। जबकि ईश्वर को मानने वाले सभी के सभी' ईश्वर को इन स्थितियों से

१। [क] स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। (ईशावास्योप: ८, यजु० ४०,८)

[ख] क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ [योगदर्शन १, २४]

[ग] अशरीरं ईश्वरः॥ [कठ २, १६]

[घ] यत्तददेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्॥ [मुण्डक उप २, १, ६]

[ङ] अपाणिपादः॥ [श्वेताश्वतर-३, १८] नित्यो नित्यानाम् [श्वेताश्वतर-६, १३]

मुक्त मानते हैं तथा उसको अज, अजन्मा, नित्य एवं निर्विकार मानते हैं।

इससे स्पष्ट है श्री कृष्ण का जन्म होने से वे ईश्वर के अवतार नहीं थे। योगेश्वर श्री कृष्ण को यशोगाथा के स्मरण के साथ ही उनके जीवन के अनेक पहलू एकदम हमारे सामने उजागर हो जाते हैं। इसीलिए उनको षोडश कलावतार कहा जाता है। श्री कृष्ण के चमत्कारी रूप को छोड़कर जब हम केवल उनको ऐतिहासिक रूप पर विचार करते हैं, तो उनके जीवन के अनेक स्मरणीय पहलू सामने आते हैं।

आज से पाँच हजार दो सौ चौदह वर्ष कंस के कारागार में भाद्रपद की अष्टमी को श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। परिस्थितिवश श्रीकृष्ण ने जहाँ वसुदेव देवकी के स्नेह से दूर अपनी शिशु मुस्कानों और चपलताओं से नन्द एवं यशोदा के मन को आनन्दित किया। तभी तो यशोदा नन्दन के नाम से स्मरण किया जाता है। कुछ बड़ा होने पर अपने बाल सखा गोपों के साथ गौओं को चराते हुए अपने गोपाल नाम को चरितार्थ किया। सुदामा आदि के साथ सान्दीपनि के आश्रम में विधिवत् विविध शास्त्रों को शिक्षा प्राप्त करके अपने शिष्यपन को साकार किया। गीताज्ञान आज भी उनके विविध शास्त्रीय वैदुष्य को प्रतिष्ठापित करता है। स्नातक बन जाने के पश्चात् गोकुल में आकर गोकुलवासियों का जहाँ नेतृत्व आरम्भ किया, वहाँ धीरे-धीरे कंस के अन्याय-अत्याचार से टक्कर लेनी शुरू की। गोकुलवासियों को संगठित एवं शक्तिशाली बना कर जहाँ कंस के क्रूर कर्मचारियों को ठिकाने लगाया, वहां एक दिन मल्लयुद्ध में केवल कंस के चाणूर और मुश्टि पहलवानों को भी पछाड़ा और कंस की हत्या करके कंस की क्रूरता से सभी को जहाँ मुक्ति दिलाई, वहाँ अपने माता-पिता को भी कारागृह से मुक्त किया। सब कुछ करने पर भी स्वयं कंस के राज्य को नहीं सम्भाला, अपितु उसके 'उग्रसेन' पिता को राज्य पर अभिषिक्त करके अपनी निरभिमानता और त्यागवृत्ति का परिचय दिया।

अपने जामाता कंस के वध का समाचार सुनकर जरासन्ध ने क्रोध-वश आक्रमण किया। प्रथम तो एक वीर योद्धा की तरह श्रीकृष्ण ने गोकुल-वासियों के साथ मुंह तोड़ उत्तर दिया। केवल अपने कारण ही जरासन्ध के बार-बार आक्रमणों को अनुभव करके श्रीकृष्ण ने दूरदर्शिता पूर्वक गोकुल को विनाश से बचाने के लिए स्वयं वहाँ से सपरिजन द्वारिका प्रस्थान किया और वहाँ जाकर अपने राज्य की स्थापना की। एक आदर्श

राजा के रूप में राज्य का संचालन करके एक उदाहरण उपस्थित किया। सुदामा के साथ एक सच्चे मित्र के रूप में व्यवहार करते हुए जहाँ हम श्रीकृष्ण को देखते हैं, वहाँ पाण्डवों के राजसूय में श्रीकृष्ण एक सेवक की तरह अभ्यागतों की सेवा करते हुए मिलते हैं, तो वहीं श्री भीष्म पितामह बड़े गौरव से अग्रज पूजा के लिए श्रीकृष्ण का नाम प्रस्तुत करते हैं।[1] इस अवसर पर क्रुद्ध शिशुपाल भरी सभा में जब गालियों की बौछार करता हो, तो प्रथम, बड़े धैर्य के साथ जहाँ उसको सहते हैं वहाँ समझने पर भी जब शिशुपाल अपनी उदण्डता से रुकता नहीं, तो एक वीर की तरह उसे उसके कुकर्म का दण्ड भी देते हैं।

महाभारत के युद्ध को प्रथम हर तरह से टालने के लिए स्वयं संधि प्रस्ताव लेकर श्रीकृष्ण जाते हैं। पर जब दुर्योधन के दुराग्रह के कारण युद्ध अनिवार्य हो जाता है तो युद्ध से विमुख नहीं होते। युद्धभूमि में हथियार डालने वाले अर्जुन को अपने ओजस्वी वचनों से उत्साहित करते हैं और उनके उपदेश से प्रभावित अर्जुन कह उठता है—"करिष्ये वचनं तव।" महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण अर्जुन के केवल सारथी ही नहीं बनते, अपितु पाँडवों की ओर से स्वयं सारे युद्ध का संचालन करते हैं। एक दो बार ही नहीं अपितु अनेक बार पाण्डव श्रीकृष्ण की राजनीति से ही संकट से त्राण एवं विजय प्राप्त करते हैं। इन्हीं प्रसंगों में आप का योगेश्वर नाम अधिक सार्थक सिद्ध होता है। योग=राजनीति के जोड़-तोड़ में जितनी निपुणता श्रीकृष्ण ने दर्शाई है वह कंस, जरासन्ध, जयद्रथ, द्रोण, भीष्म, कर्ण-वध आदि के प्रकरणों से स्वतः स्पष्ट होती है।

युद्ध भूमि में निराश, हताश अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो महान् उपदेश दिया है, वह गीता के गायक का अमरगान आज भी हर थके हारे का आत्मसम्बल है। गीता में योग का प्रतिपादन और जीवन के अंतिम चरण में योग का अभ्यास उनके योगिराज रूप को प्रतिष्ठित करता है। श्रीकृष्ण के इन सभी कार्यों में से उनका सबसे महान् कार्य है—अन्याय, अत्याचार से लोहा लेना। वह कंस वध का प्रकरण हो या जरासन्ध के विनाश का प्रसंग या इन से बढ़-चढ़कर महाभारत के विकराल युद्ध का अध्याय। ये सब योगेश्वर श्रीकृष्ण की अन्याय, अत्याचार को दूर करने की निशानियां हैं। उन्होंने हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार को न सहने का पाठ पढ़ाया

१. वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशेषः केशवादृते॥

तथा सदा हर तरह से धर्म पथ पर अडिग रहने की शिक्षा दी। अन्याय को न सहने की भावना और सत्य पथ पर अडिगता ये दो ऐसे पाठ हैं, जो हर क्षेत्र और काल में बदले हुए रूप में सामने आते हैं। जरूरत है कि दृढ़ निश्चय और अदम्य भावना के साथ उनका पालन किया जाये। यही जन्माष्टमी के रूप में योगेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति सच्ची श्रद्धाँजलि हो सकती है।

महाभारतकार श्रीवेदव्यास ने प्रसंगवश योगेश्वर श्रीकृष्ण के जीवन के अनेक-विध पक्षों को उजागर किया है। वहां श्रीकृष्ण का पत्नीव्रत रूप अविस्मरणीय है, एक विवाहित व्यक्ति कितने संयम का पालन करता है, जिसके परिणामस्वरूप प्रद्युम्न प्रत्येक प्रकार से श्रीकृष्ण का प्रतिमूर्त्त सिद्ध होता है।[1] योगेश्वर की षोडशकला सम्पन्नता के कारण ही उनको भारतीय साहित्य एवं इतिहास में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ। योगेश्वर ने अपने जीवन के क्रियात्मक माध्यम से जीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत किया है। इस पर्व पर उनसे प्रेरणा प्राप्त करके ही उनके प्रति अपनी सच्ची श्रद्धाँजलि दी जा सकती है।

---

१. समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनतकुमार तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः
सौप्तिक-१२/३०

शान्तिप्रिय श्रीकृष्ण

(उदयवीर शास्त्री, गाजियाबाद)

पत्रकारिता तथा आर्यजगत् में महाशय कृष्ण से कौन परिचित नहीं है ? वे लेखनी के धनी एवं निर्भीक लेखक थे। मैं मेरठ निवासी अपने मित्र रायबहादुर के साथ ज्वालापुर में ठहरा हुआ था। उन्हीं दिनों गुरुकुल काँगड़ी का महोत्सव था। हम दोनों प्रातः ही ज्वालापुर से घमते फिरते गुरुकुल काँगड़ी के उत्सव पर जा रहे थे। जैसे ही पंडाल के समीप पहुंचे कि महाशय कृष्ण कुछ व्यक्तियों से बातें करते दिखाई दिये। परस्पर नमस्ते के बाद महाशय जी फिर अपनी बातों में लग गये। बातचीत का विषय गुरुकुल काँगड़ी की व्यवस्था सम्बन्धी था। मैं तो बातचीत से परिचित न होने से चुपचाप खड़ा रहा, किन्तु मेरे मित्र रायबहादुर जो उस समस्या से पूर्व परिचित थे, अतः उन्होंने महाशय कृष्ण से कहा—"महाशय जी ! आप कुछ दिनों के लिए अपने इस सुदर्शन चक्र को घुमाना छोड़ देवें तो अच्छा रहे।" साथ में खड़े एक अन्य सज्जन भी चुप न रह सके और बोले—यह कैसे हो सकता है ? द्वापर के कृष्ण जीवन भर लड़ाई-झगड़ों में लगे रहे। इनके लिए भी यह स्वाभाविक सा है। यद्यपि बात उपहास परक कही थी, किन्तु मेरे दिल में चोट लगी कि ये लोग श्रीकृष्ण को लड़ाई-झगड़ा करने वाला ही समझते हैं। उस समय तो मैं चुप होकर ही सोचता रहा, परन्तु बाद में मैंने इस विषय पर रायबहादुर जी से जो चर्चा की, उसी का सार यहां लिख रहा हूं।

प्रायः लोगों का यह विचार कि श्रीकृष्ण अपने समय का युद्धप्रिय और झगड़ालू स्वभाव का व्यक्ति था, यह केवल भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के आधार पर यथाकथंचित् कहा जा सकता है। जबकि दोनों ओर की सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी है तब अर्जुन युद्ध से विरक्त होने की भावना व्यक्त करता है। यहां तक कह डालता है कि मैं भीख माँगकर जीवन निर्वाह करने को तैयार हूं पर अपने इन सगे सम्बन्धियों को नहीं मारूंगा। श्रीकृष्ण इस बेमौके अर्जुन के अपलाप को सुनकर चकित रह

जाता है। आज तक जिस शक्ति संचय के लिये समस्त पांडव, बल व दृढ़तापूर्वक प्रयास करते रहे हैं। आज अर्जुन यह क्या कह रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। निश्चय ही यह मिथ्या व्यामोह से अभिभूत होकर समयोचित कथन नहीं कर रहा। उसके इस व्यामोह को गीता के दूसरे अध्याय के कतिपय प्रारम्भिक श्लोकों से ही दूर कर दिया गया है।

इस प्रसंग में वास्तविक रूप से अर्जुन युद्ध न करना चाहता हो, ऐसी कोई बात नहीं थी। उसके मिथ्या मोह को दूर करना ही श्रीकृष्ण के कथन का अभिप्राय था। पांडव युद्ध की तैयारी बहुत पहले से करते रहे। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता था तो आज तक उसने क्यों आवाज बुलन्द नहीं की। ऐसे अवसर पर क्षत्रिय का युद्ध से हटने की बात करना नितान्त अपयश व लज्जास्पद माना जाता है, ऐसी बात कहकर श्रीकृष्ण ने उसे युद्ध करने के लिए कहा। इसलिए प्रथम अध्याय के वर्णन से यह अभिप्राय निकाला जाना कि अर्जुन वस्तुतः युद्ध नहीं करता चाहता था और श्रीकृष्ण ने उसे युद्ध के लिए प्रेरित किया नितान्त असंगत है। गीता के इस अंश का उक्त अभिप्राय समझना अज्ञता का ही द्योतक कहा जा सकता है।

श्रीकृष्ण के जीवन के अन्य अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वे परस्पर भाईयों के इस युद्ध को किन्ही भी तरीकों पर टालना चाहते थे। दुर्योधन को शक्ति उसके अनेक सहयोगी मित्रों पर आधारित थी। श्रीकृष्ण ने सोचा कि यदि इन सहयोगियों का योगदान युद्ध में दुर्योधन के साथ समाप्त कर दिया जाय तो संभव है यह युद्ध से विरत होने की बात सोचने लगे। इसमें सबसे पहले श्रीकृष्ण का ध्यान मगध के राजा जरासन्ध की ओर गया। यह प्रतापी, साहसी और अपने काल में शक्तिपुंज माना जाता था। दुर्योधन के सहयोगियों में यह ऊंचा स्थान रखता था। यहां बात को बढ़ाना बेकार है। केवल लक्ष्य कहने का यह है कि कोई बहाना पैदा कर श्रीकृष्ण ने भीम के सहयोग से जरासन्ध को समाप्त कर दिया। दूसरी कदम कृष्ण ने चेदी देश के राजा शिशुपाल की ओर बढ़ाया। राजसूय यज्ञ के अवसर पर साधारण सी बातों का बहाना लेकर सुदर्शन चक्र से उसकी गर्दन धड़ से अलग कर दी। इन कार्यों से भले ही कृष्ण उस समय लोगों में बदनाम हुआ हो पर अपनी बदनामी की कुछ परवाह न कर वह केवल इन सहयोगी शक्तियों के न रहने से युद्ध टल जाने की आशा रखता रहा।

अन्त में युद्ध टल लाने की स्थिति विलीन हुई सी दिखाई देने लगी। तब श्रीकृष्ण ने सोचा कि एक बार दुर्योधन से मिलकर कोई ऐसा निर्णय करने का प्रयास करना उपयुक्त होगा। जिससे युद्ध न हो और दोनों पक्ष प्रसन्न भी रहें तब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुंचे। भरे दरबार में दुर्योधन ने इस विषय में हर एक पहलू की चर्चा की। जब उसका कोई अनुकूल परिणाम दिखाई न दिया तो कृष्ण ने कहा "सम्राट् आप बने रहें, प्रशासन आपके हाथों में रहे। पांडवों के राजजनोचित जीवन निर्वाह के लिए इन्द्रप्रस्थ के आसपास प्रदेश के केवल पांच गांव उनको दे दीजिए।

इस पर दुर्योधन का उत्तर था—"आप पाँच गांव की बात कर रहे हैं। मैं सुई के नोक के बराबर भूमि भी पांडवों को बिना युद्ध के देने को तैयार नहीं हूं।

कहते हैं कि दुर्योधन उस समय कृष्ण को बन्दी बनाने की बात भी सोच रहा था। वह सोचता था कि यह "युद्ध न करो की रट लगाते फिर रहा है। जब तक युद्ध समाप्त न हो जाये, इसे बन्दी गृह में डाल दो।" पर इसका संकेत श्रीकृष्ण को मिल चुका था, वह दुर्योधन के यहां भोजन भी न करके उसी तरह गंगा पार विदुर जी की कुटिया में चला गया और उसने समझ लिया कि अब युद्ध अवश्यम्भावी है।

श्रीकृष्ण विचारने लगे कि मेरा कोई भी संपर्क इस युद्ध से न रहे, ऐसी स्थिति बन जाये तो अच्छा ही रहेगा। एक दिन वे अपने स्थान पर थे। उन्हें सूचना मिली दुर्योधन और अर्जुन आपसे मिलने के लिए आये हैं। उन्होंने कहा कि उन्हें उपयुक्त स्थानों पर विश्राम के लिए प्रबन्ध कर दिया जाये। कल प्रातःकाल उनसे मेल होगा। अगले दिन बहुत सवेरे ही उठकर दुर्योधन वहां पहुंचा। उनके लिए प्रवेश की कोई मनाही नहीं थी। कहते हैं कृष्ण अभी सोये हुए थे। दुर्योधन वहां पहुंचे वहां पड़ी आसन्दी को धीरे से खींचकर सिरहाने की ओर बैठे और कृष्ण के उठने की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी ही देर बाद वहां अर्जुन ने प्रवेश किया। उसने देखा कि बड़े भाई साहब पहले ही आकर बैठे हैं। यह भी धीरे से एक आसन्दी खींचकर पांयथ की ओर बैठ गया। थोड़ी ही देर में करवट लेते हुए श्रीकृष्ण उठ बैठे। स्वाभाविक था कि उठकर बैठने पर दुर्योधन की ओर उनकी पीठ और अर्जुन की ओर उनका मुख था। तत्काल पूछा कि इतने सवेरे कैसे? तब अर्जुन ने अपना उद्देश्य बताया कि आप युद्ध में हमें सहयोग दें। उसी समय पीछे की ओर से आवाज आई—मैं अर्जुन से पहले हो

आकर बैठा हूं मेरा अधिकार पहले है।

कृष्ण ने मुंह मोड़कर देखा। दुविधा में थे कि अर्जुन को सहयोग का वचन दे चुका। अब क्या किया [जाये। तत्काल सोचकर उन्होंने दुर्योधन से कहा कि एक ओर मैं और दूसरी ओर मेरी समस्त यादवी सेना है। आप इनमें से किसको लेना चाहेंगे। दुर्योधन ने यादवी सेना लेना पसन्द किया। तभी अन्तिम बात श्रीकृष्ण ने कही कि मैं सदा से यह प्रयत्न करता रहा कि किसी तरह यह युद्ध टल जाये। पर इसमें सफलता प्राप्त न कर सका। अब भी मेरी यह भावना है कि मेरा युद्ध के रूप में कोई भी सहयोग न रहे। इसलिए मैं इस युद्ध में अपने हाथ से शस्त्र नहीं उठाऊंगा। उसके प्रयोग का तो प्रश्न ही नहीं रहता। इन घटनाओं से स्पष्ट होता है कि योगोश्वर श्रीकृष्ण नितांत शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। तात्कालिक समाज में इसी रूप से वे सम्माननीय रहे।

*

क्या श्रीकृष्ण युद्ध-लिप्सु थे?

—यशपाल आर्यबन्धु, आर्य निवास, चन्द्र नगर, मुरादाबाद

महापुरुषों को समझने में संसार प्रायः भूल करता चला आया है, परिणाम स्वरूप महापुरुष प्रायः गलत समझे जाते रहे हैं। महामानव श्री कृष्ण इसके अपवाद नहीं। उन्हें समझने में भी संसार ने भूल की है। और उन्हें गलत समझा है। यदि यह कहें कि जितना गलत इन महापुरुष को समझा गया है, उतना संसार के किसी अन्य महापुरुष को नहीं। उनके अति उज्ज्वल, अति पावन, निष्कलंक चरित्र को आज जिस रूप में कलंकित कर प्रस्तुत किया गया है, उसे देखकर यह शंका होने लगती है कि महापुरुष तो दूर, यह कोई सामान्य पुरुष भी हो सकता है क्या? आश्चर्य तो तब होता है कि जब हम यह देखते हैं कि ऐसा वही लोग कर रहे हैं कि जो उसे महापुरुष नहीं ईश्वर मानने के लिए अधिक उत्साह दिखाते हैं। जिस निष्कलंक एवं पावन चरित्र के लिए बंकिम बाबू ने लिखा था कि "उनके ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्व पापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है। न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।" उसको आज क्या समझा जा रहा है? उन्हीं के शब्दों में— "यही कि वह बचपन में चोर थे—दूध, दही, मक्खन चुराकर खाया करते थे, युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुत सी गोपियों के पातिव्रत्य धर्म को नष्ट किया प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे—उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिये।" और फिर बंकिम बाबू एक प्रश्न करते हैं कि "क्या इसी का नाम भगवत चरित्र है?"

हम बात—बात में किसी को ईश्वर कहते रहें और फिर उस पर मनमाने आरोप लगाते रहें। यदि कोई मनुष्य वैसे कुकर्म करे तो दोषी गिना जाता है किन्तु ईश्वर करे तो कोई बात नहीं। सत्य है, समर्थ को नहीं दोष गुसाईं।

महामानव श्री कृष्ण पर एक दोष यह भी लगाया जाता है कि

वे युद्ध लिप्सु थे। अर्जुन के कायरता दिखाने पर उसे युद्ध के लिए प्रेरित करने के कारण ही प्रायः ऐसा समझा जाता है कि श्री कृष्ण युद्ध-लिप्सु थे। इसको सरिता सरीखी पत्रिका ने और भी हवा दी है। पर श्री कृष्ण पर युद्ध लिप्सु होने का लाँच्छन लगाने वाले यह भूल जाते हैं कि युद्ध तो एक मजबूरी थी। श्री कृष्ण महाराज ने युद्ध को टालने का जितना प्रयास किया उसे देखते हुए यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि श्री कृष्ण युद्ध लिप्सु थे। महाभारत के उद्योग पर्व में इसका विस्तार के साथ उल्लेख है। किन्तु महाभारत का यह पर्व गीता की अपेक्षा कम पढ़ा और सुना जाता है इसलिये श्री कृष्ण द्वारा किये गये शान्ति प्रयत्न भी लोगों के सम्मुख नहीं आ पाते। विपरीत इसके गीता का अधिक प्रचार होने से युद्ध की प्रेरणा का प्रसंग अधिक प्रचार पा जाता है जिस कापण लोग केवल यह समझने लगते हैं कि श्री कृष्ण युद्ध लिप्सु थे। वास्तविकता तो तह है कि युद्ध को टालने के लिए श्री कृष्ण स्वयं दूत बनकर हस्तिनापुर गये ताकि वहाँ जाकर दुर्योधन को समझाया—बुझाया जा सके। हस्तिनापुर पहुंचने पर विदुर जी ने श्री कृष्ण से कहा कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारे उपदेश का दुर्योधन पर कुछ भी प्रभाव नहीं होगा। जिस प्रकार चाण्डालों के सामने ब्राह्मणों के वचनों का कोई सत्कार नहीं होता, उसी प्रकार दुर्योधन की सभा में तुम्हारे वचनों का कोई सत्कार नहीं होगा। अतः ऐसे व्यर्थ के काम से दूर रहना ही ठीक है। श्री कृष्ण जी ने इसका जो उत्तर दिया वह इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि श्री कृष्ण युद्ध नहीं शान्ति चाहते थे। श्री कृष्ण जी ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विदुर जी से कहा कि—"दुर्योधन की दुष्टता का मुझे ज्ञान है। परन्तु सारी पृथ्वी को रुधिर से लथपथ भी नहीं देखा जा सकता। कितना रुधिरपात होने को है ? कैसी भयानक आपत्ति संसार पर आयेगी, यह सोचकर विवश हो गया हूं। ऐसे समय जो मनुष्य इन करोड़ों लड़ंतों को मृत्यु के मुख से खींच ले क्या वह अत्यन्त पुण्य का भागी नहीं होगा ? यह भीड़ दुर्योधन और कर्ण की लाई हुई है। इन्हें समझाऊंगा। लाख बैरी हो, आखिर अपने हैं। जो मित्र को किसी व्यसन का शिकार होता देख बचाता नहीं। वह क्रूर है। आपत्ति पड़ने पर आत्मीय को केशों से पकड़कर भी खींचने का यत्न करे तब भी मनुष्य निन्दा का पात्र नहीं होता। मैं तो कौरवों के हित को भी कहूंगा, पाण्डवों के भले की भी। यदि दुर्योधन को फिर भी शंका बनी रहे तो बनी रहे। मेरा अपना हृदय सन्तुष्ट होगा। मेरे सिर से कर्त्तव्य का

भार उतर जायेगा। फिर कोई यह न कह सकेगा कि श्री कृष्ण ने दो बान्धव दलों को लड़ते देखा और उन्हें छुड़ाया नहीं। वह चाहता तो छुड़ा सकता था। मैं चाहता तो छुड़ा सकता था। मैं चाहता हूं कि शान्ति हो जाये।" (द्रष्टव्य-शुद्ध कृष्णायन, पृष्ठ ६३-६४) इतना ही नहीं श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि—"यदि यह लड़ाइ छिड़ गई तो इन सारे जीवों की हत्या का भार तुम्हारे सिर पर होगा। यदि तुम्हारे पुत्र मरे तो तुम्हारा जीवन वृथा हो जायेगा। हे राजन। देश-देश के सारे राजे महाराजे लड़ाई पर कमर बाँधे तैयार हैं। इस लड़ाई में सब की बर्बादी है। इसमें न छोटा बचेगा न बड़ा, इसलिये हम पर दया करो और लड़ाई बन्द करो, नहीं तो लहू की नदी बह निकलेगी और सारे भारतवासी इसमें डूब जायेंगे।" (वही, पृष्ठ ६४)

हस्तिनापुर जाने से पूर्व आप्त पुरुष श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को सुस्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि—"मैं आपके प्रयोजन को सिद्ध करने के निमित्त कौरवों की सभा में आऊंगा। वहाँ पर आपके अभिलाषित विषय को स्थिर रखकर यदि शाँन्ति स्थापित कर सकूंगा तो मेरा महा-फल से युक्त बहुत बड़े पुण्य कर्म का अनुष्ठान सफल हो जायेगा। **संधि करने से कौरव, पाँडवों तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों और समस्त पृथ्वी के राजाओं तथा मनुष्यों को मृत्यु के मुंह से मुक्त करूंगा।"** इस पर डा० भवानी लाल भारतीय ठीक ही लिखते हैं कि—"इससे अधिक स्पष्ट कथन और क्या हो सकता है? कृष्ण संधि कराकर मनुष्य जाति को मृत्यु के मुख से बचाना चाहते थे। इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है कि संधि के लिए इतना घोरतम प्रयत्न करने वाला व्यक्ति ही युद्ध का मूल कारण समझा जाय।" [श्रीकृष्ण चरित, पृष्ठ १६७]

तात्पर्य यह कि श्री कृष्ण जी ने शाँति के लिए अनथक प्रयत्न किया। उनके प्रयत्नों पर किसी प्रकार की शंका का कहीं भी कोई अव-काश नहीं। यहाँ तक की अपनी बन्दी बनाये जाने अथवा मारे जाने की चिन्ता न कर श्री कृष्ण इस महान कार्य को करने के लिए समुद्यत हुए। वहाँ उनके साथ किस प्रकार का कैसा व्यवहार हुआ यह अलग विषय है जब बहुत समझाने बुझाने पर भी दुर्योधन नहीं माना और उसने दो टूक उत्तर दे दिया कि सूई की नोंक के बराबर भी भूमि देने को तयार नहीं तो फिर अन्याय को सहन करना भी क्षत्रिय के लिए पाप है। अतः उस पाप से बचने के लिए एवं पाण्डवों को न्याय दिलाने के लिए

अपने पूर्ण प्रयत्नों के विफल हो जाने के पश्चात् नीति—निपुण श्रीकृष्ण के सम्मुख युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रह गया था। फिर भी वे स्वयं को इस युद्ध में सर्वथा तटस्थ रखना चाहते थे। उन्होंने पाण्डवों को भी यह स्पष्ट कह दिया था कि मैं इस युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊंगा और अपनी सेना भी कौरवों को द डाली। यह सब इसलिए कि पाण्डव ही कहीं संतोष कर लें और युद्ध न करें। पर जब युद्ध गले पड़ ही गया तो फिर उससे मुख मोड़ना क्षात्रधर्म के सर्वथा विपरीत कृत्य कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में अर्जुन का मोह करना क्षात्रधर्म के विपरीत, उसे कलंकित करने वाला कृत्य था। इस से अर्जुन का अपयश फैल सकता था। ऐसी स्थिति में अर्जुन का मोह भंग करना भी कर्त्तव्य कर्म था और श्रीकृष्ण जी ने यही किया। इससे उनकी शान्ति-प्रियता पर कोई आंच नहीं आती। यदि वे युद्धलिप्सु होते तो प्रारम्भ से ही उनका विश्वास युद्ध की अनिवार्यता में होता जबकि हम उन्हें युद्ध के प्रति सर्वथा उदासीन अथवा वैराग्यवान् पाते हैं। युद्ध को तो उन्होंने अपरिहार्य अन्तिम रूप में स्वीकार किया था। पर जब युद्ध गले पड़ ही जाये तो फिर उससे पलायन करना क्षत्रिय का धर्म नहीं। अर्जुन मोहवश युद्ध से मुंह मोड़ रहा था। तब एक क्षत्रिय को उसके कर्त्तव्य की याद दिलाना कोई बुरा कार्य नहीं अपितु कर्त्तव्य कर्म है। श्रीकृष्ण ने यही तो किया था फिर वे युद्ध—लिप्सु क्योंकर हो सकते हैं? हमारा विश्वास है कि महाभारत में उनकी भूमिका को ठीक से न समझने के कारण ही लोग प्रायः उन्हें युद्ध का मूल कारण अथवा युद्धलिप्सु कह दिया करते हैं। हम डा० भवानी लाल भारतीय के इस निष्कर्ष से पूर्णतया सहमत हैं कि—"श्री कृष्ण चरित्र विषयक एक और भ्रान्ति है जिसने लोगों के मस्तिष्क में जड़ जमा रखी है और जिसके फलस्वरूप लोग श्रीकृष्ण को धोखेबाज, कपटी, युद्धलिप्सु और महाभारत के भीषण नरसंहार का मूल कारण समझने की भयंकर भूल कर बैठते हैं। इस भ्रांति का कारण महाभारत की घटनाओं को प्रकरणानुकूल न समझना ही है। श्रीकृष्ण की शान्ति—प्रियता, विश्व-बंधुत्व की भावना और युद्ध के प्रति सहज विराग की भावना लोगों से विस्मृत हो चुकी है। उन्हें यह पता नहीं कि श्रीकृष्ण युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करते थे अपितु इसे वे अपरिहार्य परिस्थिति में अन्तिम साधन के रूप में ही स्वीकार करने के लिए तभी उद्यत होते थे जबकि समझौते के सभी साधन व्यर्थ हो जाएं श्रीकृष्ण के लोक पावन, मंगलकारी चरित्र की यह निकृष्ट व्याख्या है कि उन्हें धूर्तताभरी चालों वाला कपटी

राजनीतिक समझा जाये। इन्हीं भ्रममूलक धारणाओं के कारण आज श्रीकृष्ण का वास्तविक स्वरूप अंधकारमय हो रहा है और हम उसकी कल्याणकारी वृत्तियों को हृदयंगम करने में अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं।" (श्रीकृष्ण चरित, पृष्ठ १४) आज आवश्यकता इस बात की है कि श्रीकृष्ण को ठीक से समझा जाये। दूषित मनोवृत्ति और गलत दृष्टिकोण से हम श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप को कदापि नहीं समझ सकते। प्रभु करे कि हम अपने महापुरुषों को ठीक से समझने में सफल हो सकें।

इत्योम् शम्

श्रीकृष्ण शान्ति प्रिय थे, युयुत्सु नहीं

राजवीर शास्त्री

मोहवश युद्ध के विमुख अर्जुन को क्षत्रिय के धर्मों का बोध कराकर जो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्धार्थ उद्यत किया, ऐसा लोकप्रसिद्ध गीता में पढ़कर अथवा सुनकर जनसामान्य की धारणा बन गई है कि श्रीकृष्ण युद्धप्रिय थे, यदि वे चाहते तो युद्ध को रोका जा सकता था। परन्तु महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण ने यथाशक्ति युद्ध को रोकने के ही प्रयास किये थे। युद्ध तो अन्त में विवशता में ही करना पड़ा। इस विषय में महाभारत के कतिपय प्रसंग पढ़िये—

१. पाण्डवों के वनवास का समय पूरा होने पर राजा धृतराष्ट्र ने संजय को पाण्डवों के पास इस लिये भेजा कि वह पाण्डवों के अभाव का पता लगावे। संजय ने प्रथम धर्मराज युधिष्ठिर से बातचीत की, उस समय युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की तरफ इशारा करके कहा—क्योंकि **"श्रीकृष्ण दोनों पक्षों के हितचिन्तक**[1] हैं, अतः उनके विचार इस विषय में जानने चाहियें।"

२. **श्रीकृष्ण की संजय को चेतावनी** "हे सूत![2] मेरी सदा यही अभिलाषा रही है कि दोनों पक्षों में शान्ति बनी रहे। इसलिये हे कुन्ती-कुमारो! तुम कौरवों से सन्धि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो। इसके सिवाय पाण्डवों के समक्ष दूसरी बात मैं कोई भी नहीं कहता हूं।"

३. श्रीकृष्ण संजय को अपने हृदय का स्पष्टीकरण करते हुए पुनः कहते हैं—"हे संजय![3] यदि पाण्डवों का धर्मपूर्वक राज्य का भाग नष्ट

---

१. महायशाः केशवस्तद्ब्रवीतु, वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः॥ (म० उद्योग० २८।१०)

२. कामो हि मे संजय नित्यमेव नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति (म० ३०२९।२)

३. अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात्॥
(म० उ० २९।४८)

किये बिना मैं कौरवों के साथ इनकी सन्धि कराने में सफल हो सका, तो मेरे द्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदय का कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौत के फन्दे से छूट जायेंगे।"

४. श्रीकृष्ण दूतरूप में जाने का उद्देश्य समझाते हुए युधिष्ठिर से कहते—"हे युधिष्ठिर ! आपके लाभ में किसी प्रकार की बाधा न पहुंचाते हुए यदि मैं कौरवों के पास जाकर दोनों पक्षों में सन्धि करा सका, तो मैं यह समझूंगा कि मेरे द्वारा यह महान् फलदायक और बहुत बड़ा पुण्य[1] का कार्य सम्पन्न हो जायेगा।

धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन कितना पापी है, यह मैं जानता हूं। फिर भी कौरवों के पास दूत रूप में इसलिये जा रहा हूं कि दोनों पक्षों में सन्धि होने से संसार के क्षत्रियों की दृष्टि में हम निन्दा के पात्र[2] न बनें।

५. दूत रूप में श्रीकृष्ण का कौरव सभा में भाषण का सार—

हे धृतराष्ट्र ! मैं आपसे यह प्रार्थना करने आया हूं कि क्षत्रियवीरों का संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवों के मध्य शान्ति स्थापित हो जाये। इस समय समस्त क्षत्रियों में यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है और इसमें यदि आपके कारण कोई धर्मविरुद्ध कार्य हो तो यह उचित नहीं है। हे कुरु श्रेष्ठ ! इस समय कौरवों पर अतीव भयंकर आपत्ति आई हुई है, यदि अब भी उपेक्षा की गई तो समस्त भूमण्डल का विध्वंस हो जायेगा। हे भारत ! यदि आप चाहें तो यह भयानक विपत्ति दूर की जा सकती है। और दोनों पक्षों को समझा कर सन्धि कराना कोई कठिन कार्य नहीं है। दोनों पक्षों में सन्धि कराना आपके तथा मेरे आधीन है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा में रखिये और मैं पाण्डवों को नियन्त्रण में रखता हूं। आप थोड़ा यह भी विचार कर कि इस युद्ध के परिणाम कैसे होंगे ? मुझे तो इस युद्ध में दोनों पक्षों का निश्चित विनाश दिखाई दे रहा है। हे कुरुश्रेष्ठ ! जिससे इन समस्त क्षत्रिय वीर पुरुषों का तथा प्रजा का नाश न होवे, ऐसा कोई उपाय विचारिये। आप वयोवृद्ध हैं, आप पाण्डवों पर भी

---

१. शमं तत्र लभेय चेद् युष्मदर्थमहापयन्।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम्॥
(म० उ०) ७२।८०)

२. जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम्।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम्॥ (म० ३०७२।८५)

वैसा ही स्नेह बनाए रखें, जैसा पहले था। पितृहीन इन पाण्डवों को आपने ही बचपन से पालपोसकर बड़ा किया है, अब भी न्यायपूर्वक उनका भाग देकर शान्ति करने में सहायक बनें। ये पाण्डव आपको ज्येष्ठ पिता मानते हैं, इसी लिये अपनी प्रतिज्ञा पर रहकर १२ वर्षों तक जंगलों में भटकते रहे और एक-एक वर्ष अज्ञात वास में भी बिताया है। आप भी अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहकर उनका राज्य का भाग लौटा देवें। शिष्यों को कुमार्ग से रोकने का कार्य गुरु करता है, वैसे पिता पुत्रों को भी रोकता है। आप धर्मज्ञ तथा न्यायप्रिय राजा हैं आपके समक्ष यदि अन्याय होता है, तो उससे आपका अपयश ही होगा। हे भारत ? मैं तो आपका और पाण्डवों का भी कल्याण ही चाहता हूँ। आप समस्त प्रजा को धर्म, अर्थ और सुखों से वञ्चित न करें। यह समस्त उपदेश महा० उद्यो० प० ९६ वें अध्याय में है। जिसके अन्त में श्रीकृष्ण ने यह कहकर अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की है—

"अहंतु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत।"

६. धृतराष्ट्र की प्रार्थना पर दुर्योधन को समझाना—श्रीकृष्ण के भाषण पर समस्त राजा मुग्ध हो गये और उन्होंने शान्ति की आशा से सुख का सांस लिया। तत्पश्चात श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र की प्रार्थना पर दुर्योधन को भी इस प्रकार समझाया—

हे दुर्योधन ! मैं तुम्हारे कल्याण की भावना से ही दूत बनकर आया हूँ। तुम्हारा जन्म एक ऊँचे क्षत्रिय कुल में हुआ है, किन्तु तुम जो कर्म कर रहे हो वे तुम्हारे योग्य नहीं हैं। ऐसे निकृष्ट कर्मों को तो नीच कुलों में उत्पन्न पामर जन ही किया करते हैं। हे भरत श्रेष्ठ ! तुम शूरवीर मनस्वी एवं ज्ञानी हो तुम्हें अपना हिताहित सब सोचना चाहिये। और अपने हितचिन्तक विदुर, पितामह भीष्म, तथा पिता धृतराष्ट्र की बातों पर ध्यान देना चाहिये। यदि तुम अपने दुराग्रह को छोड़कर पाण्डवों से सन्धि कर लोगे तो एक बहुत बड़ी आपत्ति टल सकती है। अन्यथा बाद में पश्चात्ताप ही करना होगा।

हे भरत श्रेष्ठ ! इस समय तुम्हारे जो सलाह देने वाले हैं, वे तुम्हारे हितैषी नहीं हैं। तुमने धर्मात्मा एवं वीर पाण्डवों के साथ सदा ही शठता पूर्ण व्यवहार किये हैं। किन्तु तुम्हें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जो धर्मात्मा पुरुषों के साथ सद्व्यवहार नहीं करता, वह कुल्हाड़ी से वन की भांति अपने आपको ही काट देता है। यदि तुम पाण्डवों के साथ सन्धि

करके प्रेम से रहोगे, तो तुम्हारे सभी मनोरथ पूरे हो जायेंगे।

हे भरतनन्दन ! साथ ही तुम्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पाण्डव तुम्हारे से निर्बल नहीं हैं। कभी तुम यह सोचते हो कि पाण्डवों ने हार के भय से ही सन्धि का प्रस्ताव रखा है। तुम्हारे पास जितने भी योद्धा हैं, उनके लिये वीर अर्जुन ही पर्याप्त है। क्या तुमने विराट् नगर में अर्जुन के द्वारा परास्त भीष्मादि की दशा पर थोड़ा भी विचार नहीं किया ? मैं अर्जुन का सारथी हूँ, मेरे साथ होने पर तो अर्जुन को कौन हरा सकता है ? इसलिये पूर्वापर भलीभांति विचार कर देखो, कि तुम भयंकर नरसंहार के कारण क्यों बनना चाहते हो ? मेरी तो यही इच्छा है—

अस्तु शेषं कौरवाणां मा परा भूदिद कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥ (म० उ० १२४ अ०)

हे नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुल का पराभव न हो, और तुम भी अपनी कीर्त्ति का नाश करके कुलघाती न कहलाओ। इसलिए पाण्डवों से सन्धि करो, ये धर्मात्मा पाण्डव तुम्हें ही युवराज पद पर स्थापित कर देंगे, यह निश्चित जानो। तुम अपने घर में आई हुई राज्य लक्ष्मी का अपमान मत करो और पाण्डवों का आधा राज्य सौंपकर सुख पूर्वक राज्य का भोग करो।

७. विदुर की धृतराष्ट्र के लिये सलाह—

हे कुरुराज ! आप अब वृद्धावस्था में हो, अब तक आप पर प्रजा का यह विश्वास है कि आप धर्मात्मा हैं। किन्तु अपने पुत्र की मूर्खतावश सर्वनाश के लिये उद्यत हो गये हो। यह आपके लिये शोभा नहीं देता और दूत रूप में शान्तिस्थापनार्थ आये श्रीकृष्ण को जो मूल्यवान् वस्तुयें भेंटकर रहे हो, यह एक प्रवञ्चना ही है। क्योंकि पाण्डव शान्ति की कामना से ही अपना पैतृक राज्य भी न मांगकर पांच गांव ही तो मांग रहे हैं। किन्तु आप पाण्डवों की तुच्छ मांग को भी स्वीकार नहीं कर रहे हैं, इससे स्पष्ट है कि आप शान्ति नहीं चाहते। मेरा तो परामर्श यही है कि आप श्रीकृष्ण के सन्देश को स्वीकार कर लेवें। क्योंकि श्रीकृष्ण तो—

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ॥ म० उद्योग ८८।१६।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ॥ म० उ० ८८।१५ ॥

हे राजन् ! पूजार्ह श्रीकृष्ण तो उभयपक्ष में शान्ति-स्थापनार्थ ही यहां आये हैं। वे तेरा और दुर्योधन का भी कल्याण चाहते हैं। उन्हें धन

नहीं चाहिये, इन्हें तो अपने उद्देश्य की सफलता चाहिये, आप उसके अनुरूप ही उन्हें उपहार देने का प्रयत्न करें।

८. स्वयं श्रीकृष्ण के द्वारा ही अपना उद्देश्य बताना—जिस समय श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन को समझाने के लिये जाने लगे, उस समय श्रीकृष्ण की कैसी पवित्र भावना थी और वे क्या उद्देश्य लेकर गये थे, यह उनके शब्दों से ही जाना जा सकता है। कौरवों के पास जाकर दुर्योधन की जिद तथा अच्छी सलाह को न मानने पर तो कुछ अन्यथा विचार होना दूसरी बात थी किन्तु उससे प्रथम भी श्रीकृष्ण की भावना शान्ति स्थापना की ही थी। देखिये—

धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम्।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया ॥ (म० उद्योग० ८३ प्र०)

श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले—हे अर्जुन! मैं धृतराष्ट्र के पास दूत बनकर इसलिए जाऊँगा कि जो धर्म-संगत एवं हमारे व कौरवों के लिए हितकर है, उसे वहाँ जाकर समझा सकूँ।

९. श्रीकृष्ण ने युद्ध की बात कब स्वीकार की?

श्रीकृष्ण ने जब यह देखा कि भीष्म द्वारा, विदुर, गान्धारी, धृतराष्ट्र तथा मेरी, किसी की बात का भी कुलघ्न दुर्योधन पर कोई असर नहीं है और यह पूर्ववत् अपने दुराग्रह पर ही अडिग है, तब साम, दाम, भेद नीतियों से सफलता[१] न मिलने पर विवश होकर युद्ध की बात स्वीकार की थी। इसलिये समस्त महाभारत के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण युयुत्सु कदापि नहीं थे: वे तो बहुत निष्पक्ष, धर्मात्मा एवं शांति-प्रिय थे।

---

१. साम्यादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥
पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते।
यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः।
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्चग्रामान् विसर्जय ॥
एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥
(म० उ० १५० वां अध्याय)

क्या श्रीकृष्ण ने युद्ध में अधर्म को अपनाया था ?

(प्रह्लादरायपचेरिया, ४।१७ भगवती अपार्टमेंट्स
एस०बी० रोड, मलाड (प०) बम्बई)

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश मैं लिखा है कि "श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव आप्त पुरुषों के सदृश है। उन्होंने जन्म से मरण पर्यन्त अधर्म का कोई भी आचरण नहीं किया।" योगीराज श्रीकृष्ण कहीं के राजा भी नहीं थे परन्तु उनका मान, प्रतिष्ठा, महिमा उनको विद्वत्ता, नीतिमत्ता और महान् शक्तिमत्ता के कारण थी इसलिये पांडवों के राजसूय यज्ञ में कृष्ण को क्षत्रियों में अग्रपूजा का मान प्राप्त हुआ था। महाभारत के युद्ध में पांडवों की विजय कृष्ण की नीति के कारण ही प्राप्त हुई थी और यदि युधिष्ठिर कृष्ण के निर्देशानुसार ही आचरण करता तो पांडवों की इतनी अधिक हानि नहीं होती और न भारत की वह दुर्दशा होती जो आज हो रही है फिर भी युद्ध के बाद भारत का जो कुछ भी बचा था वह भी कृष्ण के कारण ही था।

कृष्ण के समय में भारत देश में आसुरी शक्तियां बहुत ही प्रबल थीं। कंस, जरासंध, शिशुपाल, भौमासुर और कौरवादि दुष्टों का राज्य व बोलबाला था, साधु त्रस्त थे। परन्तु ये आसुरी राज्य भी तो इच्छा अनिच्छा या विवशता के कारण "यथा राजा तथा प्रजा" के अनुसार प्रजा के सहयोग और समर्थन के कारण ही तो चल रहे थे। इसलिये उन राज्यों की प्रजा भी उन पापों के लिए जो इन राज्यों द्वारा किया जा रहा था— उत्तरदायी थी और पापों का फल भोगने की पात्र थी।

ऐसा आक्षेप किया जाता रहा है कि कृष्ण ने छलकपट और झूठ का आश्रय लेकर ही पांडवों की विजय कराई थी। परन्तु आक्षेप करने वाले यह भूल जाते हैं कि धर्म के दो रूप हैं। एक है शाश्वत और दूसरा व्यवहारिक (इसमें आपद्धर्म और युद्ध धर्म भी शामिल है)। दोनों धर्म

अलग अलग हैं, इनकी आपस में तुलना भी नहीं हो सकती और न एक धर्म का प्रयोग दूसरे धर्म के स्थान पर किया जा सकता है और यदि किया गया तो अधर्म हो जाता है, अकल्याण कारक होता है। जहां तक शाश्वत धर्म का सम्बन्ध है, उस व्यक्ति को जिसने अपनी सारी आयु में अधर्म के पक्ष का ही समर्थन या हित साधन किया हो या धार्मिक पक्ष का अहित किया हो उसको जैसे भी हो मार डालना ही धर्म है। भीष्म ने भीम को विष देने वालों, समस्त पांडवों को उनकी माता सहित लाक्षागृह में जीवित ही भस्म कर देने का प्रयत्न करने वालों को क्या दण्ड दिया? भरी कौरव सभा में सबके सामने अपनी पतोहू के नग्न किये जाने के प्रयत्न का विरोध न कर दुर्योधन और कर्ण के अपकृत्यों का —'बलवान् जो करे वही धर्म है'—कहकर समर्थन ही किया था, वह भीष्म धर्मात्मा था क्या? इसलिए कृष्ण ने भीष्म का वध शाश्वत धर्म के अनुसार कराया था।

जब अर्जुन भीष्म पर बाण वर्षा कर रहा था, भीष्म को अर्जुन पर बाण वर्षा करनी थी। शत्रु को भूल का या दुर्बलता का लाभ उठाना प्रत्येक योद्धा का कर्त्तव्य होता है। सत्य धर्म का व्यवहार सत्य वक्ताओं, सत्य का आचरण करने वालों के लिए होता है न कि जान-बूझकर अधर्माचरण करने वालों के लिये। इसलिये कृष्ण पर आक्षेप करना भी गलत है। घी जैसी नरम वस्तु भी सीधी ऊंगली से नहीं निकलती, अंगुली को टेढ़ा करना पड़ता है, विष की दवा विष होती है। दुष्टों के साथ भला-व्यवहार हानि-कारक ही होता है।

द्रोणाचार्य जुए के समय, द्रौपदी को नंगी किये जाने के समय सभा में उपस्थित थे परन्तु सर्वथा मूकदर्शक बने रहे अभिमन्यु के चक्रव्यूह तोड़कर बड़े-बड़े महारथियों को हराकर कौरव सेना में हाहाकार मचा देने पर, उसे घेरकर और निशस्त्र कर मार देने की द्रोणाचार्य की सलाह पर कर्ण ने पीछे से अभिमन्यु का धनुष काटकर उसे निःशस्त्र किया और फिर घायल और मूर्छित अभिमन्यु का वध किया गया, इसके लिये द्रोणाचार्य ही मुख्य रूप से उत्तरदायी थे। द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को जीवित ही बन्दी बनाने या फिर संपूर्ण पांडव सेना का संहार करने की प्रतिज्ञा की थी। अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए द्रोणाचार्य ने मानवता को तिलांजलि देकर अनजान निरीह सैनिकों पर दिव्यास्त्रों से आक्रमण कर उनका वध आरम्भ किया। कृष्ण ने अनुभव किया कि यह क्रूर पतित ब्राह्मण सायंकाल से पूर्व ही सारे पांडव सैनिकों का वध कर युद्ध

को कौरवों के पक्ष में समाप्त कर देगा। इसलिए कृष्ण ने योजना बनाई। द्रोणाचार्य को अश्वत्थामा के मरने की सूचना देकर उसको विचलित किया गया और अवसर देखकर धृष्टद्युम्न ने उसका सिर काट दिया। क्या अपनी सेना के निरीह सैनिकों के जीवन की रक्षा कर कृष्ण ने कुछ बुरा कार्य किया था ? ब्रह्मास्त्र और दिव्यास्त्रों का अनजान सैनिकों पर प्रयोग करना सत्य ही घोर पाप था। हाँ, अर्जुन पर चलता तो ठीक था, अर्जुन उसका समुचित उत्तर दे सकता था।

यदि द्रोणाचार्य जीवित रहता और अश्वत्थामा को जीवित देख लेता तो यह निश्चय था कि दोनों क्रूर कर्मा पिता पुत्र मिलकर सारी पाडव सेना का सँहार करके दम लेते। युद्ध की अन्तिम रात्रि को तो अश्वत्थामा ने सोते हुए पाँडव सेना के वीरों को इतनी क्रूरता और निष्ठुरता से मारा जिसकी संसार के इतिहास में कहीं तुलना नहीं होगी। और अन्त में अपने पापी स्वामी की मृत्यु के बाद भी पापी ने पांडवों का बीज नाश करने के लिए ब्रह्मास्त्र तक चला दिया, जिससे उत्तरा का गर्भस्थ बालक तक मृत प्रायः हो गया। श्री कृष्ण ने उसे किसी तरह जीवित कर दिया, अन्यथा पाँडवों का नाम लेवा भी इस संसार में कोई भी नहीं रहता। दुर्योधन का भीम के द्वारा गदा युद्ध में उसकी जाँघें तोड़कर वध, कर्ण का उसके रथ के पहिये के जमीन में धँसे हुए होने की अवस्था में अर्जुन के द्वारा वध करवाकर कृष्ण ने शाश्वत धर्म का ही पालन किया था। कर्ण ही महाभारत युद्ध का खलनायक था। उसी की प्रेरणा और सलाह से दुर्योधन ने पांडवों के साथ शत्रुता की थी उसी कर्ण की प्रेरणा से ही द्रौपदी को नंगी करने का प्रयास किया गया था। कर्ण यदि दुर्योधन के पक्ष में नहीं होता तो संभव है महाभारत का युद्ध जिस रूप में जिस तरह सर्व-संहारक हुआ वैसा नहीं होता। चाहे जैसे भी हो कृष्ण ने इन सभी पतित और दुष्ट ब्राह्मण क्षत्रियादिकों का वध करवाकर लोक कल्याण और पुण्य का ही कार्य किया था।

श्री कृष्ण पर यह भी आक्षेप किया जाता है कि समर्थ होते हुए श्री कृष्ण ने कौरव और पाँडवों को युद्ध से नहीं रोका और युद्ध के कारण भयंकर नर संहार हुआ और देश को बड़ा जबर्दस्त धक्का लगा। परन्तु इस आक्षेप में कोई सार नहीं है। देखिए। श्री कृष्ण कहते हैं:—[विदुर जी से]

धर्मकार्य यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशय ॥६॥

मनुष्य यदि अपनी शक्ति भर किसी धर्मकार्य को करने का प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता प्राप्त न कर सके तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है इसमें संशय नहीं है।

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरु पाण्डवान् १६

संसार के पापी मूढ़ और शत्रु भाव रखने वाले लोग मेरे विषय में यह न कहें कि श्री कृष्ण ने समर्थ होते हुए भी क्रोध से भरे कौरव पांडवों को युद्ध से नहीं रोका, इसलिये भी संधि कराने का प्रयत्न करूंगा।

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥१७॥

मैं दो पक्षों का स्वार्थ सिद्ध करने के लिये ही यहाँ आया हूं। इसके लिए पूरा प्रयत्न कर लेने पर मैं लोगों में निन्दा का पात्र नहीं बनूंगा।

अहापयन् पाण्डवार्थं यथावच्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याचरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्यु-पाशात् ॥१८॥

महात्मन्! यदि मैं पांडवों के स्वार्थ में बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवों के यथा योग्य संधि करा सकूंगा तो मेरे द्वारा यह महान पुण्य कार्य बन जायगा और कौरव भी मृत्यु के पाश से मुक्त हो जावेंगे। [उद्योग पर्व अध्याय ९३]

कौरवों से संधि के लिए जाते समय कृष्ण पाण्डवों से कहते हैं:—

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः।
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन॥
॥ (उद्योग० ७५-५-५) ॥

मैं, मनुष्य से जितना हो सकता है उतना संधि स्थापन के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करूंगा परन्तु प्रारब्ध के विधान को किसी भी प्रकार से टाल देना या बदल देना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

महाभारत साक्षी है कृष्ण ने सभी सम्भव उपायों का युद्ध रोकने के लिए उपयोग किया था परन्तु दुर्योधन की हठधर्मी के कारण सफल नहीं हुए। महाभारत में कृष्ण का चरित्र जितना उज्ज्वल है उसकी समता कहीं नहीं है।

महाभारत और पु·राणों के श्रीकृष्ण

(ले० डा० सत्यदेव आर्य S.B. १६१ बापू-नगर, जयपुर ३०२०१५)

श्रीकृष्ण की लोकप्रियता का कारण—

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का पावनपर्व प्रतिवर्ष आता है। बड़ी ही धूमधाम से मनाया जाता है। लोग उपवास रखते हैं। घर २ झाँकियां सजाते हैं। अर्धरात्रि तक कृष्ण जन्म वेला की प्रतीक्षा करते हैं। भजन-कीर्तन करते हैं। कृष्ण जन्म की खुशियां मनाते हैं पर क्यों ? इसलिए कि श्रीकृष्ण जनजन के पूज्य हैं; अनुकरणीय आदर्श हैं।

श्रीकृष्ण चरित के प्रसिद्ध लेखक वङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय लिखते हैं कि "भारत में गांव २ में कृष्ण के मन्दिर हैं। घर २ में कृष्ण की पूजा होती है। प्रतिमास कृष्ण उत्सव होता है। प्रति उत्सव में कृष्ण लीला होती है। सब के मुंह पर कृष्ण का नाम है तथा उसके गीत सुनाई देते हैं। किसी के वस्त्र पर कृष्ण नामावली होती है तो किसी के शरीर पर कृष्ण नामों की छाप। कोई कृष्ण का नाम लिए बगैर पैर बाहर नहीं रखती, कोई कृष्ण का नाम लिए बिना कुछ नहीं लिखता भिखारी 'राधाकृष्ण' का नाम लेकर भीख मांगता है तो जुआरी कृष्ण का नाम लेकर दाँव लगाता है। अभिवादन करते हैं तो भी कृष्ण का नाम लेकर यथा 'जय श्री कृष्ण' 'जय गोपाल' 'जय राधे कृष्ण' और घृणा प्रदर्शित करते हैं तब भी कृष्ण का नाम लेकर 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण" आदि" हालांकि इसमें पौराणिक झलक है, फिर भी है यह वास्तविकता। कृष्ण जन जन के मानस पटल पर छाये हुए हैं, इसलिये कि वह पवित्रात्मा थे, आत्मदर्शी थे, अपूर्व आस्तिक एवं योगी थे तथा सही अर्थों में महामानव थे। उनका मानवीय व्यवहार और आप्तजनीय का कारण बना हुआ है। दूसरों के सुख दुःख को स्वात्मवत् समझने वाले, निर्बल धर्मात्माओं का सहाय और सबल अत्याचारियों का दमन करने वाले, निस्वार्थ जन-हित में सदा प्रवृत्त रहने वाले, धर्म-अधर्म के विवेक से न्यायोचित पथ प्रदर्शित करने वाले और स्वतः सत्य न्याय और धर्म का अनुपालन करने धर्मात्मा योगीराज श्रीकृष्ण में हमें उनकी सहृदयता, शूरवीरता, निर्भीकता,

निर्लेपता, नीतिमत्ता और धैर्य के दर्शन होते हैं। उनके कर्म योग बाल योग के विशिष्ट स्वरूप का बोध हमें रणभूमि में उनकी नीतिमत्ता एवं गीता की उत्कृष्ट शिक्षा में मिलता है—हालांकि गीता में भी अब तक बहुत कुछ प्रक्षेप हो चुका है। महर्षि दयानन्द ने श्रीकृष्ण को आप्त पुरुष कहा है। महर्षि लिखते हैं कि "देखो। श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं।"

महाभारत का श्रीकृष्ण धर्मरक्षक था—

श्रीकृष्ण ने बालकृत्य—श्रीकृष्ण का उत्कृष्ट व्यक्तित्व उनके बालकपन से ही प्रस्फुटित हाता है। बाल्यावस्था में अरिष्ट, केशी, धेनुक आदि भयंकर जंगली जानवरों से ग्वालबाल। व ग्वालों की रक्षा, गोरक्षा, अति वृष्टि से आई भीषण बाढ़ से वृन्दावन वासियों की रक्षा आदि ऐसे कई कार्य हैं जो उन्हें इस उम्र में ही नेता व त्राता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। बाढ़ से रक्षार्थ श्रीकृष्ण सभी वृन्दावन वासियों को मय पशु धन के, गोवर्धन पर्वत पर ला बसाते हैं, जहाँ एक अद्भुत चहल पहल मच जाती है। ऐसा लगता है मानो कृष्ण ने गोवर्धन को उंगलियों पर नचा दिया हो। बस इसी प्रसंग में पौराणिकों ने कृष्ण की चमत्कारिता प्रदर्शित करने हेतु उसे पर्वत को उंगली पर उठाये दिखा दिया है।

श्रीकृष्ण के लोकोत्तर कार्य—बालकपन समाप्त हुआ। श्रीकृष्ण व बलराम स्नातक बने। दुष्ट अत्याचारी मथुराधिपति कंस को मार उसके पिता उग्रसेन को कैद-मुक्त करा पुनः सिंहासनारूढ़ किया। धर्मराज्य स्थापन के उनके उद्देश्य में यह उनका प्रथम चरण था। भारत उन दिनों अनेक छोटे-२ राज्यों में बंटा हुआ था। कई राजा काफी प्रभावशाली थे। मगध का राजा जरासन्ध कंस का श्वसुर-बड़ा पराक्रमी था। लेकिन अपनी दुष्टता एवं अत्याचारिता के कारण बदनाम था। उसने लगभग ८६ राजाओं को बन्दी बना रखा था। उसकी घोषणा थी कि इनकी संख्या १०० तक हो जाने पर इन्हें मार दूंगा। कंस की मृत्यु पर जरासन्ध ने १७ बार मथुरा पर आक्रमण किये, लेकिन सभी वार उसे कृष्ण के हाथों गोरिल्ला युद्ध में मुंह की खानी पड़ी। १८ वें आक्रमण पर कृष्ण उसकी उत्तरोत्तर बढ़ती सेना के साथ खपना, बुद्धिमत्ता न समझ अपने सभी यादव सैनिक-साथियों को साथ ले द्वारिका चले गये। यह उनकी

सामयिक श्रेष्ठ रणनीति थी। लेकिन युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ को सफल बनाने में पहले जरासन्ध को पराजित करना और उसके यहाँ सभी बन्दी राजाओं को छुड़ाना अत्यावश्यक था। जरासन्ध को विधिवत् युद्ध में तो हराना कठिन था, अतः श्रीकृष्ण ने एक अन्य योजना बनाई। अर्जुन व भीम को साथ ले स्नातक रूप धारण कर, जरासन्ध के यहाँ पहुंच गये। स्नातकों को मिलने की रोकटोक नहीं थी। अतः वे उसके कक्ष में जा पहुंचे। वहाँ उसे मल्ल युद्ध के लिये ललकारा। भीम से युद्ध करवाया। जरासन्ध मारा गया। सभी बन्दी राजाओं को मुक्त करा उनके निजी राज्य उन्हें लौटाये। मगध का राज्य जरासन्ध के बेटे सहदेव को सौंपा। श्रीकृष्ण की यह श्रेष्ठ नीतिमत्ता थी। इस प्रकार उन्होंने जहां दुष्ट जरासन्ध की अत्याचारिता का अन्त किया वहां मुक्त किये सभी राजाओं और मगध के राजा सहदेव को युधिष्ठिर के पक्ष में किया। धर्मराज्य स्थापन में यह उनका दूसरा चरण था।

अब राजसूय यज्ञ आयोजित हुआ। सभी राजा महाराजा सम्मिलित हुए। चेदि नरेश शिशुपाल भी। शिशुपाल जरासन्ध का सेनापति था (रुक्मिणी से विवाह करने को था। बारात लेकर विवाह मण्डप में पहुंचा, पर रुक्मिणी तो श्रीकृष्ण को चाहती थी अतः श्रीकृष्ण उसे एक दिन पहले ही अपने साथ ले आये और द्वारिका में पूर्ण वैदिक रीति से विवाह किया।) वह श्रीकृष्ण से दुश्मनी रखता था। जब अग्रपूजा का प्रश्न उठा और भीष्मपितामह ने श्रीकृष्ण का नाम प्रस्तावित किया तो उसने कड़ा विरोध किया। भीष्मपितामह ने कहा कि "श्रीकृष्ण वयोवृद्ध नहीं हैं पर ज्ञानवृद्ध, बलवृद्ध एवं श्रीवृद्ध है, वेद वेदाङ्गविद् है, सत्यबल सम्पन्न हैं, इसलिये सब के आचार्य हैं, गुरु हैं।" पर शिशुपाल नहीं माना। श्रीकृष्ण को अयोग्य बताया, अपशब्द कहे, मिथ्या लांछन लगाये। यहाँ तक कि 'विवाहित नपुंसक' भी कह दिया, लेकिन 'व्यभिचारी' नहीं कह सका क्योंकि महाभारत के कृष्ण का यह चरित्र नहीं था। शिशुपाल द्वारा लगाये गये लाँछनों से श्रीकृष्ण लेशमात्र भी उत्तेजित नहीं हुए। सौम्यरूप धारण किये रहे। लेकिन शिशुपाल ने जब मल्लयुद्ध के लिये ललकारा तो श्रीकृष्ण ने उस दुष्ट का एक ही झटके में काम तमाम कर दिया। राजसूय यज्ञ शान्ति पूर्वक सम्पन्न हुआ। युधिष्ठिर महाराजाधिराज बने। धर्मराज्य स्थापन में श्रीकृष्ण की यह तीसरी कड़ी थी।

दुष्ट दुर्योधन को यह नहीं भाया। द्यूत खेल रचाया। युधिष्ठिर को हरा सारा राज्य हड़प लिया। पाण्डवों को १२ वर्ष बनवास और

एक वर्ष का अज्ञातवास दिया। वनवास की अवधि समाप्त हुई। पाण्डवों को उनका राज्य वापिस लौटाने का समय आया। दुर्योधन राजी नहीं हुआ। श्री कृष्ण ने कुशल कूटनीतिज्ञ-दूत का दायित्व सम्भाला। दुर्योधन को समझाया। धृतराष्ट्र को समझाया और अन्य सभी सम्बन्धित योद्धा परिजनों व गुरुजनों को भी। पर दुर्योधन सूई के नोंक के बराबर भी भूमि लौटाने को राजी नहीं हुआ। युद्ध के अतिरिक्त अब कोई रास्ता नहीं रहा। श्री कृष्ण ने धर्मनिष्ठ पाण्डवों का साथ दिया। निःशस्त्र रहकर पूर्ण नीतिमत्ता से युद्ध का संचालन किया। कौरवों की हार हुई। दुर्योधन मारा गया। पाण्डवों को उनका राज्य वापस मिला। भारत में चक्रवर्ती धर्मराज्य की स्थापना हुई—यही कृष्ण का उद्देश्य था सो पूरा हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत के श्रीकृष्ण विशुद्ध व्यक्तित्व के पुण्यात्मा, योगी, तपस्वी, ईश्वर भक्त, वेदज्ञ, धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, निरहंकारी व लोक हितकारी महामानव थे।

पौराणिक श्री कृष्ण चोर, व्यभिचारी तथा कामुक था

लेकिन पौराणिकों की दृष्टि में श्री कृष्ण के इस विशिष्ट व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं रहा। वे तो उसे गोलोक का अधिपति-ईश्वरेश्वर सिद्ध करने में ही मस्त रहे। ऐसा ईश्वरेश्वर कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि सभी उसके अनुचर बने हाथ जोड़े खड़े रहे। पर साथ ही ऐसे ईश्वरेश्वर को पुराणकारों ने पृथ्वी पर मनुष्य रूप में अवतरित कर उसे चोर, व्यभिचारी, शठ व वञ्चक भी दर्शा दिया। श्री कृष्ण दूध, मक्खन, दही चुराने वाला चोर युवावस्था में गोपियों के साथ रास लीला रचाने वाला व्यभिचारी, १६१०८ रानियां रखने तथा प्रत्येक से १०-१० पुत्र उत्पन्न करने वाला असंयमी व्यक्ति बता दिया (ब्रह्मवैवर्त पुराण) जबकि श्री कृष्ण की एक ही पत्नी रुक्मिणी थी और संयमशील ऐसे कि विवाहोपरान्त उससे भी उन्होंने १२ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का व्रत रखवा लिया था। इसके बाद परम पराक्रमी पुत्र प्रद्युम्न को जन्म दिया। परन्तु पुराणों में कृष्ण चरित्र, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, पद्म, ब्रह्म, विष्णु, वायु, स्कन्द, कूर्म आदि पुराणों में वर्णित हुआ है। रागरङ्ग, रास लीला, गोपियों के चीरहरण, कुब्जा प्रसङ्ग, विरजा व राधा प्रसंग आदि का बड़ा ही अश्लील वर्णन भागवत व ब्रह्मवैवर्त में हुआ है। राधा प्रसंग के सन्दर्भ में तो ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में श्री कृष्ण को बालक पन में ही अत्यन्त

कामुक दर्शा दिया है। उसमें उल्लेख है कि एक दिन नन्द कृष्ण को गोद में लिए गायें चराने वन में गये। सहसा घनघोर घटा उमड़ आई। बिजलियां चमकने लगी। बालक घबराया-रोने लगा। तभी राधा भी वहां आ पहुंची। नन्द ने बालक उसे देकर आश्वस्त करने को कहा। वह उसे लेकर दूर निकल गई। वहाँ पहले से ही रासमण्डप सजा हुआ था। ब्रह्मा जी भी वहां विद्यमान थे। बालक कृष्ण ने युवक रूप धारण कर लिया। पुष्प सज्जित सेज पर आ लेटे। ब्रह्मा जी ने राधा का हाथ उनके हाथ में थमा दिया। दोनों रतिरत हुए। प्रातः कृष्ण पुनः बालक रूप में आ गये। राधा उसे यशोदा के पास ले गई। बोली भूखा है दूध पिला दो। यशोदा ने स्तन पान कराया। इसके बाद राधा उसे हर रात्रि ले जाती, बालक युवा रूप धारण करता और वही सिलसिला चालू हो जाता (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण खण्ड ४ अध्याय १६) ऐसे ही अश्लील वर्णन कुब्जा प्रसंङ्ग, रास लीला प्रसङ्ग, चीर हरण आदि के भागवत में भी हुए हैं।

कितने दुख की बात है कि पुराणों की इन कपोलकल्पित कथाओं से हमारी वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता पर जो कलुषित प्रभाव पड़ा है, और पड़ता जा रहा है उससे हिन्दू जाति का बड़ा ही अहित हुआ है। इन्हीं कथाओं पर आधारित भजनों, गीतों, कविताओं व कृष्णलीलाओं के आयोजनों से और भी अधिक अहित हो रहा है। महाभारत के महामानव योगीराज श्री कृष्ण के पवित्र एव उत्कृष्ट चरित्र को अनायास ही कलंकित किया जा रहा है। निश्चय ही वैदिक वाङ्मय का विद्यार्थी जब वेद, उपनिषद व दर्शन शास्त्रों में उल्लिखित आध्यात्मिक तत्व ज्ञान का अध्ययन करने के बाद पुराणों पर दृष्टिपात करता है तो उसके हृदय में एक हूक सी उठती है, एक ठण्डी साँस निकलती हैं और वह चीख उठता है, 'हे भगवान ! आर्यों की उत्कर्ष संस्कृति एवं सभ्यता का कैसा अधः पतन हो गया ! !

*

कर्मयोगी श्रीकृष्ण

अर्जुन देव स्नातक, [५ सीताराम भवन, फाटक आगरा कंण्ट]

भारत वह भव्य भूमि है जहां अनेक महान पुरुष अपने महान् गुणों एवं कार्यों से जन-जन के प्रशंसा के पात्र बने हुए हैं। इन्हीं महापुरुषों में कर्मयोगी श्री कृष्ण का नाम आदर के साथ लिया जाता है। श्री कृष्ण जीवनी के आधारभूत दो ग्रन्थ हैं—भागवत पुराण एवं महाभारत। इनमें भागवत पुराण में वर्णित श्री कृष्ण का जीवन हेय, त्याज्य एवं घृणास्पद है। इसमें वे विलासी, चोर, जार, लम्पट, धूर्त आदि दुर्गुणों के भंडार हैं। जबकि महाभारत के श्री कृष्ण त्यागी, तपस्वी, कर्मयोगी, सदाचारी आदि सद्गुणों के भंडार हैं। एक को पढ़ने से देशवासियों का चरित्र पतन के गर्त में गिरता है तो दूसरे को पढने से देश वासियों को आदर्श चरित्र निर्माण की प्रेरणा मिलती है। निस्सन्देह महाभारत वर्णित श्री कृष्ण का चरित्र माननीय पठनीय एवं अनुकरणीय है।

श्री कृष्ण एक कर्मयोगी महापुरुष थे। उनका समग्र जीवन यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के दूसरे मन्त्र की व्याख्या है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

वे आजीवन कर्म में संलग्न रहे, उन्होंने जो भी कर्म किये वे महान थे, त्याग भाव से युक्त थे, समर्पण की भावना से परिपूर्ण थे, अतएव उनके कर्म बन्धन के कारण नहीं थे, वे सच्चे कर्मयोगी थे। कर्म बन्धन तीन प्रमुख दोषों के कारण होता है— काम, क्रोध और लोभ। इन तीनों दोषों से पूर्णतया मुक्त उनका जीवन मानव मात्र के लिए प्रेरणा दायक है। वे योगी थे। योग दर्शनकार के अनुसार—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"

चित्त वृत्तियों का निरोध योग होता है। श्री कृष्ण पूर्णतया निरुद्ध-चित्तवृत्ति वाले थे—योगी थे, परमयोगी थे।

"योगः कर्मसु कौशलम्" के अनुसार कर्म में कौशल प्राप्त करना योग है। उक्ति के अनुसार श्री कृष्ण निरुद्ध चित्तवृत्ति वाले, कर्म कुशल

योगी थे। गीता में योग के विषय से स्पष्ट लिखा है कि

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जयः।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

श्री कृष्ण आसक्ति रहित, सफलता-असफलता, जय-पराजय, हानि-लाभ आदि में समत्व के साथ रहकर कर्म में संलग्न रहते थे, अतएव कर्मयोगी थे। इस प्रकार समत्व भाव से संसार में रहकर कर्म करना कर्मयोग है, प्रत्येक कर्म को अनाशक्ति पूर्वक करना कर्मयोग है, कर्म के आधार पर योगारूढ़ होना कर्मयोग है, कर्म से अमृतमय परम पद की प्राप्ति कर्मयोग है। श्री कृष्ण का समग्र पावन चरित्र इसी आधार पर था—अतः वे कर्मयोगी थे।

श्री कृष्ण ने जीवन भर जो किया वह आसक्ति रहित होकर, फलेच्छा से रहित होकर किया। वे कर्मयोगी इसलिए भी थे कि उनका सम्पूर्ण जीवन "परित्राणाय साधूनाम्" सज्जनों की रक्षा के लिए तथा—"विनाशाय च दुष्कृताम्" दुष्टों के विनाश के लिए एवं—"धर्म संस्थापनार्थाय" धर्म की स्थापना के लिए था। उन्होंने अपने जीवन से मानव मात्र को प्रेरणा दी है कि इस क्षण भंगुर जीवन को सज्जनों की रक्षा, दुष्टों की नाश एवं धर्म की स्थापना के लिए लगाना चाहिए।

वे तपस्वी, चरित्रवान् तथा सद्‌गुणों के भण्डार थे। वे विलासी कामी नहीं थे। उनका शरीर बलबान् था, वे शक्ति के आगार थे। तभी तो उन्होंने गोकुल में अपनी वाल्यावस्था में पूतना, शकटासुर, त्रिणावर्त, वकासुर आदि दुष्टों का विनाश किया। आगे चलकर मथुरा में कुलवलयापीड विशाल हाथी को सभा भवन के द्वार पर ही मार गिराया, इतना ही नहीं, श्री कृष्ण तथा बलराम ने सभा भवन में चाणूर, मुष्टिक, जैसे पहलवान मल्लयुद्ध कर उन्हें परास्त किया। बाद में अत्याचारी कंस को समाप्त कर दिया तथा स्वयं निर्लोभी रहकर कंस के पिता उग्रसेन को ही मथुरा का राजा वना दिया। विलासी, भोगी, कामी व्यक्ति में इतना वल और इतना महान त्याग कहाँ हो सकता है? महाभारत सौप्तिक पर्व १२।३०, ३१ में लिखा है—

ब्रह्मचर्यं महद् घोरं तीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत् पार्श्वमभ्युपेत्य यो मया तपसार्जितः ॥
समान व्रत-चारिण्याँ रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनत्कुमार-तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ॥

उक्त प्रमाणानुसार यह भी सिद्ध है कि उन्होंने अपनी पत्नी रुक्मिणी के साथ हिमालय के पार्श्व में बैठकर ब्रह्मचर्य का व्रत पालन करते हुए महान तप किया और तब उसका प्रद्युम्न नाम का एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वे विलासी, कामी या भोगी नहीं थे। उन्होंने काम पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी।

कर्मयोगी श्री कृष्ण क्रोधजीत भी थे। दूत बनकर गये हुए श्रीकृष्ण के साथ दुर्योधन ने भरी सभा में दुष्टता का व्यवहार किया, उन्हें विविध प्रकार से अपमानित किया, किन्तु श्री कृष्ण अत्यन्त शान्त रहे उन्होंने किसी प्रकार भी क्रोध नहीं किया शिशुपाल के अनेक अपराध उन्होंने मुस्कुराहट के साथ सहन किये। महाभारत के युद्ध में भी वे सदैव अविचलित भाव से रहे, शस्त्रहीन होते हुए उन्होंने पांडव पक्ष का समर्थन किया और अपने अनुपम नेतृत्व से कर्म कौशल से पाण्डवों को विजयश्री दिलाई। यद्यपि युद्ध की भीषण परिस्थितियों को टालने का उन्होंने अथक प्रयास किया। अपनी सौम्यता, सज्जनता तथा शान्तचित्तता के साथ दुर्योधन को बहुत समझाया किन्तु—

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"

दुर्योधन के इस क्रोध पूर्वक वचन के आगे कर्म योगी की एक भी नहीं चली। परिणामस्वरूप महाभारत का युद्ध हुआ। मनु प्रोक्त सिद्धांतानुसार श्री कृष्ण ने

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"

समस्त दुष्टों का, दुष्टों का पक्ष लेने वालों का विनाश किया। परम राजनीतिज्ञ श्री कृष्ण ने यह सब स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर नहीं किया अपितु निष्काम भावना के साथ—

"धर्म संस्थापनार्थाय" धर्म की स्थापना के लिए किया।

कर्मयोगी श्री कृष्ण के समय अधिकांश धर्म का मर्म जानने वाले, अनुपम, योद्धा, तपस्वी भी—

"अर्थस्य पुरुषो दासः" धन में दास हो गये थे। अर्थ की दासता के कारण उनमें सत्य कथन का साहस नहीं था। एक अकेले कर्मयोगी अर्थ की दासता में नहीं थे, वे निर्लोभी थे। अतएव निर्भीक सत्य वक्ता थे। श्री कृष्ण ने भरी सभा में बड़े-बड़े दिग्गजों को बुराई का साथ देने के कारण साहस के साथ धिक्कारा। दुर्योधन ने राजमहल में भोजन

का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने निर्भीकता के साथ कहा—

सम्प्रीति-भोज्यान्यन्नानि आपद् भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद् गता वयम्॥
(उद्योग पर्व ९१।२५)

राजन्! किसी के घर में अन्न दो कारण से खाया जाता है—या तो प्रेम के कारण या आपत्ति पड़ने पर। प्रीति तुममें नहीं है और संकट में हम नहीं हैं।

श्री कृष्ण महान् कर्मयोगी थे। उन्होंने भारत को एक सूत्र में सुदृढ़ बनाने का महान कार्य किया। उस समय में—

"गृहे-गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः"

घर-घर में राजा थे, वे भी अपने-अपने स्वार्थ में संलग्न थे। भारत को विघटित करने वाले जरासंध, कंस आदि जैसे दुष्ट राजाओं का विनाश करके समस्त भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने का महान कार्य किया। उन्होंने स्वयं किसी के राज्य पर अधिकार नहीं किया, किसी के राज्य के शासक वे नहीं बने और उन्होंने ऐसी इच्छा भी नहीं की। किसी के राज्य का हरण उन्होंने स्वार्थ भावना से नहीं किया। वे

'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' यजु. ४०।१

इस वेद वचन का पालने वाले थे। उनकी यह निर्लोभिता महान् है।

निश्चय से श्री कृष्ण महान कर्मयोगी थे। कर्म उनके जीवन का लक्ष्य था, वह भी निष्काम कर्म, आसक्ति रहित कर्म। उनके जीवन में चारों वर्णों की मर्यादा थी। युद्ध भूमि में निराश अर्जुन के हृदय में गीता जैसा सदुपयोग देकर उन्होंने ब्राह्मण के कार्य का सम्पादन किया तो जीवन में कंसादि अनेक दुष्टों का विनाश कर क्षत्रिय वर्ण की मर्यादा का पालन किया, स्वयं गायों का पालन करके देश की आर्थिक स्थिति को सबल बनाने की प्रेरणा देकर वैश्य धर्म का पालन किया तो राजसूय यज्ञ में विद्वानों, ऋषियों आदि की चरण पादुका उठाने एवं चरण धोने के कार्य का व्रत लेकर शूद्र वर्ण के कार्य का सम्पादन किया। इस प्रकार वे—

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् "

के अनुसार अपना समग्र जीवन व्यतीत करने वाले आदर्श कर्म परायण महापुरुष थे।

हमारा कर्त्तव्य आज के भौतिक, विलास से परिपूर्ण युग में रहने वाले पथभ्रष्ट नवयुवकों, वृद्धों और मानव मात्र को महाभारत वर्णित श्री कृष्णका जीवन चरित्र प्रेरणा देता है कि हम भी सदाचारी, निर्लोभी क्रोधजित, सद्गुणों के आगार एव कर्म योगी बनें, स्वार्थरहित बनें, लोभ रहित बनें, त्यागी, तपस्वी बनें, देश प्रेमी बनें तथा सच्चे अर्थो में कर्म परायण महापुरुष बनें। धन के प्रति आसक्ति, सांसारिक वस्तुओं के प्रति लगाव, शरीर के प्रति ममता यह सब बन्धन का कारण है, दुख का कारण है। अतः उसे त्यागकर प्रत्येक मानव अपने कार्यों को—

"परित्राणाय साधूनाम्"
सज्जनों को रक्षा के लिए
"विनाशाय च दुष्कृताम्"

अपने अपन पराये को भावना से रहित होकर दुष्टों के विनाश के लिए

धर्मसंस्थापनार्थाय

धर्म की स्थापना की भावना से करे। तभी कर्मयोगी श्री कृष्ण का पावन पर्व मानना सार्थक होगा।

महान् तेजस्वी श्री कृष्ण

(आचार्य चन्द्रदेव शास्त्री, महर्षि दयानन्दीय गुरुकुल कृष्णपुर,
पो० मम्मझना, फर्रुखाबाद)

तेजोऽसि तेजोमयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यंमयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युंमयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ (य० १९/९)

विश्व शिरोमणि आर्यावर्त की पुण्यभूमि में उत्पन्न हुए गौतम, कपिल, कणाद, पतञ्जलि, व्यासादि ऋषि-महर्षियों एवं मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामादि महामानवों की परम्परा में जन्मे श्रीकृष्ण वेद मन्त्र में प्रार्थित समस्त मानवीय गुणों से विभूषित थे। इसीलिए युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है कि—"श्री कृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्तपुरुषों के सदृश है जिनमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा।"

(स० प्र० ११वां समु०)

और भी कहा है कि—"श्रीकृष्ण जी एक भद्र पुरुष थे। उनका महाभारत में उत्तम वर्णन किया हुआ है।" (म० द० उपदेश मञ्जरी)

वस्तुतः श्रीकृष्ण जहां अतिशय सहनशील थे वहीं उन्होंने कंस, शिशुपाल, शाल्वादि जैसे कुलघाती दुष्टों का संहार करके अपनी वेदोक्त क्रोधकारिता का भी परिचय दिया था। यही कारण है कि अपनी विद्वत्ता और धर्माचरण के कारण जहां वे देवों-विद्वान् ब्राह्मणों के शिरोमणि बने, वहीं वे अपने तेजोबल, न्यायप्रियता और शास्त्रोक्त नीतिमत्ता से अपने समकालीन क्षत्रिय राजाओं में अपने ओजबल और पराक्रम का परिचय देते रहे। यथार्थ में श्रीकृष्ण एक धर्मात्मप्रिय युग पुरुष थे।

पाठक वृन्द ! आइये अब ऋचा में वर्णित तेजस्वी होने के गुणों का क्रमशः महाभारत के श्रीकृष्ण चरित्र से परिचय प्राप्त करें।

'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि'' के अनुसार वेदानुकूल आचरण से ही महापुरुष अपने उज्ज्वल चरित्र का निर्माण किया करते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण जी का जीवन चरित्र भी पूर्ण वैदिक था। वे महान् तेजस्वी थे। मानव-निर्माण पद्धति की प्रकाशक संस्कार विधि के नामकरण एवं उपनयन इन दोनों संस्कारों में बालक को तेजस्वी होने का आशीर्वाद दिया गया है। तदनुसार बालक का तेजस्वी होना आवश्यक है।

अतः 'तेजोऽसि तेजोमयि धेहि'' में प्रथम तेज प्राप्ति को प्रार्थना की है। तेज नाम प्रकाश का है, जो कि परमात्मा से ही प्राप्त किया जा सकता है। तेज प्राप्ति का क्रमशः वर्णन निम्न प्रकार है—

प्रथम व्यक्ति सहनशील हो पश्चात् दुष्टों पर क्रोधकारी, इससे ओज, बल और पराक्रम से युक्त हुआ तेज को प्राप्त करता है।

धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की तैयारियां पूर्ण हो चुकी हैं। युधिष्ठिर द्वारा निमंत्रित देश देशान्तरों से ऋषि-महर्षि, राजागण तथा प्रजाजन आकर शोभायमान हो रहे हैं। यज्ञ की सम्पन्नता के लिए सभी को पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य कार्य सौंपे जा चुके हैं। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों के पैर धोने का स्वयं किया। इससे ज्ञानी और तपस्वी विप्रवरों के प्रति श्रीकृष्ण का अगाध श्रद्धा भली-भाँति प्रकट होती है। आर्यावर्त के श्रेष्ठतम पुरुष की महान् नम्रता और विनयशीलता का भी सहज अनुभव हो जाता।

''सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः'' इस महर्षि भर्तृहरी की सूक्ति के अनुरूप योगेश्वर श्रीकृष्ण पर-सेवा-रूप परमाभूषण से सर्वथा अलंकृत थे। श्रीकृष्ण की प्रबन्ध पटुता में धर्मराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ महती सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। दीक्षा पूर्ण होने पर नृप युधिष्ठिर ने पितामह श्री भीष्म से उपस्थित राजाओं में सर्वश्रेष्ठ अर्घदान के लिए योग्य अधिकारी के सम्बन्ध में पूछा तो भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को ही अर्घदान का पात्र बताते हुए कहा कि—

ज्ञान वृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौर्येणाहं गुणवतो गुणान् ॥

(सभा पर्व ३८।२)

हे राजन् ! मैंने बहुत से ज्ञानवृद्ध तपस्वी लोगों का सत्संग किया है और उन्हीं के द्वारा कथित गुणों के प्रताप से ही मैंने यह गुणवत्ता प्राप्त की है।

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वती पुत्र तेजसा ।।

अतः हे राजन् ! मैं यहां उपस्थित इन राजाओं की सभा में किसी ऐसे राजा को नहीं देखता, जिसे श्रीकृष्ण ने अपने अतुल तेज से न जीता हो । अन्यच्च—

वेद-वेदांग विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणांलोके हिकोऽन्यो विशेषः केशवादृते ।।

(सभा पर्व ३८/१९)

वेद-वेदांगादि शास्त्रों के मर्मज्ञ तथा क्षात्र बल में भी परिपूर्ण श्री कृष्ण के अतिरिक्त इस मनुष्य समाज में दूसरा कौन ऐसा मनुष्य है ? अर्थात् कोई नहीं ।

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिबुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्री धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्चनियताऽच्युते ।।

(सभा पर्व ३८/२०)

इसी प्रकार इनका दान, इनका कौशल, इनकी शिक्षा और ज्ञान, इनकी शक्ति, इनका यश, इनकी शालीनता, नम्रता, धैर्य और सन्तोषादि ये गुण भी (श्रीकृष्ण में) अतुलनीय हैं ।

ऋत्विग् गुर्वविवाह्यश्च स्नातको नृतिःप्रियः ।
सर्वमेतद् हृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युत ।।

(सभा पर्व ३८/२२)

ये ऋत्विज् हैं, गुरु हैं, जामाता होने के योग्य हैं, स्नातक हैं और लोकप्रिय राजा हैं । ये सभी गुण मानो इस एक जितेन्द्रिय महापुरुष में मूर्तरूप हो गए हैं । अतः इन्हीं (श्रीकृष्ण) को ही प्रथम अर्घ देना चाहिए । इस प्रकार पितामह की सम्मति से सहदेव जी ने युधिष्ठर के आदेशानुसार श्रीकृष्ण को ही सर्व प्रथम अर्घदान किया ।

श्रीकृष्ण का यह सम्मान उनके प्राक् विरोधी चेदिराज शिशुपाल से असह्य हो गया । उसने श्रीकृष्ण को पूजा का अनधिकारी बताते हुए उनके प्रशंसक भीष्म जी एवं पाण्डवों के लिए भी गर्हित शब्दों का प्रयोग किया । इस प्रकार शिशुपाल बोलते-बोलते आपे से बाहर हो गया और तर्क एवं विचारशक्ति का सर्वथा उल्लंघन कर उसने श्रीकृष्ण के लिए नितांत अमानवीय शब्दों का भी प्रयोग किया । इतने पर भी क्षमा के मूर्तिमान् अवतार, परमस्थित प्रज्ञ, धैर्यधनी, योगिवर्य श्री कृष्ण—शिशुपाल की इन

कटूक्तियों को सुनकर भी कुछ नहीं बोले। यदि वे चाहते तो तभी उसका प्राणान्त कर सकते थे। क्योंकि उनमें इतना बल और शौर्य था पुनरपि वे अत्यन्त धैर्यपूर्वक उसकी बातें सुनते रहे। क्योंकि उन्होंने तो "सहोअसि सहोमयि धेहि" का साक्षात्कार किया था। वे आप्त पुरुष का लक्षण यजुर्वेद में (३४.१८) में महर्षि दयानन्द के वचनों से जाना जा सकता है यह वेदोक्त आप्त पुरुष लक्षण उनमें सर्वशान्त प्रियता के कारण सर्वथा घटता था।

आगे जब पुनः शिशुपाल ने कृष्ण के शौर्यादि गुणों का उपहास करते हुए युद्ध के लिए ललकारा तो उनका परम पावन मन्यु जाग उठा और उन्होंने "मन्युरसि मन्युम्मयि धेहि" का पवित्र पाठ करते हुए उपस्थित नरेन्द्रमण्डल के समक्ष ही पापी शिशुपाल को यमलोक पहुंचा दिया। यह थी उनकी दुष्टों के प्रति क्रोधकारिता अर्थात् धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार। इसी पवित्र मन्यु का परिचय जहां उन्होंने स्वयं के व्यवहार से कंसादि को मारकर दिया, वहीं उन्होंने महाभारत के मध्य धर्मयुद्ध का संचालन करते हुए अधर्मी जरासन्ध, जयद्रथ, कर्ण, गोत्र हत्यारे दुर्योधनादि का सहार करके धर्मराज्य का स्थापन कर पवित्र नीतिमला का भी परिचय दिया है।

मननशील मानव का ही यह सामर्थ्य है कि वह सहनशीलता के गुण को अपनाकर दुर्जन-सज्जन का विचार करता है। महर्षि दयानन्द ने ठीक ही कहा है कि—

ससार दुःख दलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहित कर्म परोपकाराः"

अर्थात् [illegible] हरण करते तथा परोपकार करने में निरन्तर प्रयत्नशील हैं वे नर धन्य हैं ऐसे ही लोगों का समाज में ओज पराक्रम बढ़ा करता है। ऐसा ही महान् विभूतियों के साथ सज्जनों का एक संगठन खड़ा हो जाता है। इसी को लोकसंग्रह कहते हैं। वह जन शक्ति जिसके साथ हो वही उसका वास्तविक ओज अर्थात् पराक्रम रूप फल है। यह जन शक्ति कृष्ण के सर्वथा साथ थी।

यहां तक कि दुर्योधन की ओर लड़ रहे कुछ कर्ण, शकुनि आदि स्वार्थान्ध योद्धाओं को छोड़ शेष भीष्मपितामह और गुरु द्रोणादि सभी महारथी हृदय से कृष्ण के पक्ष में थे। युद्ध में विजयी होने का उनका आशीर्वाद कृष्ण द्वारा संरक्षित अर्जुनादि पाण्डवों को ही प्राप्त था।

वस्तुतः यही लोक संग्रह सच्चे अर्थों में कृष्ण ओज बल का परिचालक है। इसी से कृष्ण वेदोक्त "ओजोऽस्योजोमयि धेहि" के साक्षात्मूर्त रूप थे।

ओजस्विता के साथ-साथ श्रीकृष्ण बलवान् भी इतने थे कि उन्होंने पापी कंस के पाप रूप कर्मों का फल उसके यहाँ जाकर उसे मारकर ही दिया। साथ ही तप-त्याग का परिचय देते हुए श्रीकृष्ण ने दुष्ट कंस के धर्मात्मा पिता तथा अपने नाना उग्रसेन को ही मथुरा का राज्य सौंप पुनः धर्मराज्य की संस्थापना की। इसी से पता चलता है कि श्रीकृष्ण अत्यन्त बलशाली, परमकार्यदक्ष, न्यायप्रिय, परहितरत और धर्मात्मा थे। अतः वे एक आदर्श पुरुष थे। इस प्रकार "बलमसि बलंमयि धेहि" की इस सत्य प्रार्थना का हम कृष्ण के जीवन में प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

जहाँ श्रीकृष्ण सहनशीलता, मन्यु, ओज, बलादि गुणों की प्रतिमूर्ति थे वहीं उनमें वीर्यत्व भी कम नहीं था। उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत को भी बड़ी कठोर साधना के साथ निभाया था। इसमें वे स्वयं कहते हैं कि—

ब्रह्मचर्यं महद्घोरं तीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत् पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः॥

(महा० सौप्तिक पर्व अ० १२)

श्री कृष्ण कहते हैं कि मैंने हिमालय की रमणीय कन्दराओं में बैठकर महती तपस्या के साथ १२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य के महान् घोर व्रत को पार किया है, तब समान व्रतचारिणी रुक्मिणी में गर्भ धारण कर प्रद्युम्न नाम का तेजस्वी पुत्र मैंने उत्पन्न किया है। उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण की एक मात्र पत्नी रुक्मिणी भी पूर्ण सती साध्वी स्त्री थी अर्थात् वह भी व्रत पालन में अपने एक मात्र पति श्रीकृष्ण से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। श्री कृष्ण प्रद्युम्न का परिचय देते हुए उसे "मे सुतः" मेरा पुत्र कहकर स्वयं गौरवान्वित होने का सर्वदा स्वाभिमान करते थे। वस्तुतः योग्य पिता ही योग्य सन्तान का ऐसा अभिमान कर सकता है। इस एक घटनाक्रम से ही सम्यक् सिद्ध है कि ऋचा में वर्णित "वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि" का श्री कृष्ण ने अपने जीवन काल में पूर्णतया व्यावहारिक पाठ किया।

इस प्रकार महाभारत के आलोक में श्रीकृष्ण जीवन चरित्र का निष्पक्ष अवलोकन करने से पता चलता है कि श्रीकृष्ण ने प्रभु की वैदिक उपासना द्वारा सहनशीलता ईश्वरीय गुणों के धारण से पूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न हो मानवता की सेवा-साधना का सच्चा आदर्श प्रस्तुत किया था। इसी से वे महान् तेजस्वी कहलाए और मानवों के कोटानुकोटि कष्टों को हरते हुए स्वयं को धन्य एवं अमर कर गए। अतः पाठक वृन्द! आइये—

"महाजनो येन गतः स पन्था" के अनुसार हम भी अपने-पूर्ववर्ती अनुकरणीय महान् तेजस्वी आदर्श पुरुष श्रीकृष्ण के लोकोज्ज्वल चरित्र का अनुकरण करते हुए कृतकृत्यता को प्राप्त कर तेजस्वी बनें॥

*

एक आदर्श चरित्र

(राजवीर शास्त्री)

(१) धर्म के प्रति दृढ़ आस्थावान्

श्रीकृष्ण धर्म के प्रति अत्यधिक आस्थावान् थे। उन्होंने जीवन भर प्रत्येक धर्म क्षेत्र में धर्म की प्राणपण से रक्षा करने का सदा ध्यान रखा था, इसीलिये उस समय सार्वजनिक-धारणा बन चुकी थी—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः। (महा० उद्योग ६८।९)

अपने धर्म (कर्त्तव्य) से जीवन भर कभी विमुख न होने से ही श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट नाम अच्युत भी प्रसिद्ध हो गया था। धर्म विषयक दृढ़ता के श्रीकृष्ण के जीवन में कतिपय प्रसंग द्रष्टव्य हैं—

(२) धर्मराज युधिष्ठिर के अनुग्रह से श्रीकृष्ण स्वयं दूत बनकर दुर्योधन के निवास पर गये और दुर्योधन को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयास किया कि इस पारस्परिक युद्ध के परिणाम अतिशय भयंकर होंगे, तुम पाण्डवों को उनका भाग देकर इस युद्ध से होने वाले विनाश से बच सकते हो। किन्तु मदोन्मत्त दुर्योधन पर उपदेश का कुछ भी प्रभाव न देखकर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन का आतिथ्य भी स्वीकार नहीं किया। तब दुर्योधन ने इसका कारण पूछा—'हे पुरुषोत्तम! हमे कोई कारण दिखाई देता, जिसके कारण आपने हमारा आतिथ्य भी ग्रहण' नहीं किया। हे गोविन्द! आपके साथ हम लोगों का न तो वैर है और न झगड़ा ही है।"

इस पर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के किये अधर्म की निन्दा करते हुए और धर्म-पक्ष को न छोड़ते हुए बहुत ही स्वाभिमान पूर्ण निम्न वचन कहे—"हे राजन्!² मैं किसी कामना से क्रोधवश, द्वेष के कारण, स्वार्थ

(१) न च तत्कारणं विद्मो यस्मिन् नो मधुसूदन।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नमिस्थाः पुरुषोत्तम॥
वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः।

(२) नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थ कारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन॥
(महा० उद्योग० अ० ९१।२१, २२, २४)

पूर्ति के कारण, बहाने बाजी अथवा लोभ के कारण, किसी भी प्रकार से धर्म का त्याग नहीं कर सकता हूं।" क्योंकि आप धर्म पर चलने के लिये उद्यत नहीं हैं, अतः आपका आतिथ्य भी मैं ग्रहण नहीं कर सकता।

(२) श्रीकृष्ण ने कौरवों की सभा में युद्ध के भयंकर परिणामों तथा धर्म पक्ष की रक्षा के लिये बहुत ही युक्तियुक्त भाषण दिया, किन्तु उनका भाषण दुर्योधन तथा उसकी चाण्डाल चौकड़ी को रुचिकर नहीं लगा। तदनन्तर दुर्योधनादि ने गुप्त मन्त्रणा करके श्रीकृष्ण को सभा भवन से बाहर निकलते ही बन्दी बनाने का षड्यन्त्र रचा। वीर सात्यकि ने इस गुप्त मन्त्रणा के संकेतों को ही समझकर इसका भण्डाफोड़ करते हुए उसी सभा में ये वचन कहे—"हे सभा में बैठे वीर पुरुषो![1] जैसे बालक और मूढमति लोग जलती आग को कपड़े में बांधना चाहें, वैसे ही ये कतिपय मन्दमति कौरव इन कमल नयन श्रीकृष्ण को कैद करने की योजना बना रहे हैं।"

इस पाप पूर्ण गुप्त मन्त्रणा का भेद खुलने पर दूरदर्शी विदुर ने धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण की वीरता एवं धर्म-दृढ़ता का वर्णन करते हुए जो शब्द कहे, वे श्रीकृष्ण के चरित का यथार्थ मूल्यांकन करने वाले हैं। हे धृतराष्ट्र! तुमने श्रीकृष्ण के उत्तम चरित को नहीं जाना है। तेरे पुत्र दुर्योधन ने जो श्रीकृष्ण को कैद करने की योजना बनाई है, वह उनकी नासमझी ही है। क्योंकि इस प्रकार के भय दिखाकर श्रीकृष्ण को धर्म-मार्ग से पृथक् नहीं किया जा सकता है। "ये पुरुषोत्तम[2] श्रीकृष्ण किसी प्रकार भी निन्दित अथवा पाप कर्म नहीं कर सकते और न कभी धर्म से ही पीछे हट सकते हैं।"

इस प्रकार महा विद्वान् विदुर के कथन के बाद श्रीकृष्ण ने भी निर्भय एवं स्वाभिमान से निम्न वचन कहे—"हे राजन्[3] (धृतराष्ट्र)! यद्यपि क्रोध में भरे हुए इन समस्त कौरवों को मैं कैद करने की शक्ति

---

(१) इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः।
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः॥

(२) न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथंचन।
न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः॥

(३) एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे।
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन॥

(महा० उद्योग० १३० अ०/१९, २२, २५)

रखता हूं, तथापि मैं किसी भी तरह से निन्दित अथवा पाप कर्म को नहीं करना चाहता हूं।" श्रीकृष्ण की यह स्वाभिमान पूर्णोक्ति उनको धीर वीर सिद्ध करती है। क्योंकि धीर पुरुष ही न्याय के रास्ते से कभी विचलित नहीं होते हैं—'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'

(२) श्रीकृष्ण ने शिष्टाचार का कभी परित्याग नहीं किया–

जब व्यक्ति महान् बन जाता है, तो विरले ही ऐसे पुरुष होते हैं, जो अभिमान-परवश नहीं हो जाते हों। महान् बनकर छोटे-बड़ों के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है, यह भाव भी बहुत कम व्यक्तियों में रह पाता है। अपने से छोटों, निर्बलों अथवा असहायों के प्रति उपेक्षाभाव तो प्रायः आ जाता है। किन्तु महा मानव श्रीकृष्ण के समस्त जीवन का अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि वे शूरवीर व महाविद्वान् होते हुए भी बहुत ही विनम्र तथा छोटे बड़ों का यथायोग्य सत्कार सदा किया करते थे। इस विषय में उनके जीवन के कतिपय प्रसंग द्रष्टव्य है—

(१) जिस समय कर्ण के साथ युद्ध हो रहा था, उस भीषण संग्राम में वीरवर अर्जुन ने अश्वत्थामा को पराजित करके एक बार अपनी समस्त सेना पर दृष्टि पात किया। और बड़े भाई युधिष्ठर को युद्ध स्थल पर न देखकर कुछ चिन्तित हुए। अर्जुन ने भीम से धर्मराज के बारे में पूछा तो भीम ने यह उत्तर दिया—

अपयात इतो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥

कर्ण के बाणों से संतप्त युधिष्ठिर युद्ध क्षेत्र से हट गये हैं। उनकी स्थिति का ठीक से पता नहीं है। भीम से यह सुनकर अर्जुन भाई से मिलने के लिए बहुत उत्सुक हो गए और भीम को युद्ध का उत्तरदायित्व सौंपकर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही खोज करते हुए युधिष्ठिर के पास पहुंचे—

ततश्च गत्वा पुरुष प्रवीरौ, राजानमासाद्य शयानमेकम्
रथादुभौ प्रत्यवरुह्य तस्माद् व वन्दतुर्धर्मराजस्य पादौ॥

और रथ से उतरकर अकेले लेटे हुए युधिष्ठिर के चरणों में श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ने सादर प्रणाम किया।

श्रीकृष्ण[1] पाण्डवों के दूत बनकर कौरव-सभा में गये थे। वहां जा कर सभा में बहुत सारग्राही शान्तिप्रद भाषण श्रीकृष्ण ने दिया। किन्तु

(१) महा० कर्ण पर्व० ६५ वां० प्र०।

हठी दुर्योधन पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी बुआ और पाण्डवों की माता कुन्ती के निवास स्थान पर गये—

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च।
आचख्यौ च समासेन यद्वृत्तं कुरु संसदि॥

अर्थात् श्री कृष्ण ने बुआ कुन्ती के घर जाकर सर्व प्रथम चरण छूकर प्रणाम किया और तत्पश्चात् कौरव सभा का संक्षेप में समस्त वृत्तान्त सुनाया। यह कितना महान् आदर्श श्री कृष्ण का है, यह संसार के इतिहास में अनुपम ही है।

महाभारत[2] के युद्ध का नवम-दिन समाप्त हो गया था। पितामह भीष्म के युद्ध से पाण्डव पक्ष में भय व्याप्त हो रहा था। धर्मराज युधिष्ठिर को चिन्ता देखकर श्री कृष्ण ने उन्हें शान्त करते हुए भीष्म को जीतने का उपाय बताता और कहा—

"मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव॥

हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! तुम चिन्ता मत करो। यद्यपि मैंने यह व्रत लिया था कि मैं युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊंगा। पुनरपि यदि तुम्हारा आदेश होगा तो मैं भी भीष्म से युद्धार्थ तैयार हूं। और मैं सच कहता हूं—"हनिष्यामि रणे भीष्मम्" मैं रण में भीष्म को अवश्य मार दूंगा। तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने भीष्म से ही उनके वध का उपाय पूछने का प्रस्ताव रखा। श्री कृष्ण ने तुरन्त उसे मान लिया। श्री कृष्ण पाण्डवों के साथ भीष्म के निवास स्थान पर पहुंचे

प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रतिवेदिरे

और अन्दर प्रवेश करके "श्री कृष्ण तथा सभी पाण्डवों ने भीष्म को शिर झुकाकर प्रणाम किया और "कथं जयेम सर्वत्र कथं राज्यं समेमहि" कहकर अपनी विजय का उपाय पूछा।

श्रीकृष्ण दूत बनकर हस्तिनापुर जा रहे हैं। रास्ते में श्री कृष्ण ने महर्षियों को देखकर जो शिष्टाचार पूर्ण वर्ताव किया, वह बड़ा आदर्श है—

(१) महा० उद्योग० ३२ वां० प्र०।
(२) महा० भीष्म० १०७ वां० प्र०।

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः।
यथावृत्तान् ऋषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥[1]

श्री कृष्ण ऋषियों को देखते ही रथ से उतरे और सभी ऋषियों को सादर णाम करके उनसे कुशल क्षेम पूछने लगे। "कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः" अर्थात हे ऋषियों ! तुम्हारी कुशलता तो है। तुम्हारे धर्मानुष्ठान में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं आ रही है, इत्यादि।

(३) श्री कृष्ण आदर्श गृहस्थ थे—

"अहो किमपि विचित्राणि चरितानि महात्मनाम्" संस्कृत की इस सूक्ति के अनुसार महान पुरुषों के चरित्र अलौकिक ही होते हैं। श्री कृष्ण का भी समस्त जीवन अतीव शिक्षाप्रद एवं आदर्श था। कारागार में ही जन्म होने के कारण शैशव दशा में ही अन्याय अत्याचार के प्रति शोध्र की भावना आपमें कूट-कूट कर भरी थी। इसी भावना से अनुप्रमाणित होकर श्री कृष्ण ने अपने बालसखाओं के साथ खेलते-कूदते ही दुर्दान्म कंस के मदोन्मत्त मल्लों के दांत खट्टे किये और कंस भी मान मर्दन करके उसकी जीवन लीला को समाप्त किया। विद्यार्थी काल में गुरुवर्य सांदीपनि ऋषि के आश्रम में गरीब अमीर के भेदभाव को भुलाकर ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन करते हुए समस्त वेद वेदांगों का अध्ययन किया। और युवावस्था में द्वितीयाश्रम में प्रवेश कर आदर्श गृहस्थ बनकर दिखाया। यद्यपि परिवर्ती भागवत आदि ग्रन्थों में श्री कृष्ण के चरित्र को कलंकित करने में कोई कसन नहीं छोड़ी है, किन्तु महर्षि वेदव्यास के बनाये महाभारत में वैसा नहीं है। श्री कृष्ण के सच्चरित्र की स्थान-स्थान पर शत्रु पक्ष के दिग्गजों द्वारा भी प्रशंसा की गई है।

गृहस्थ का मुख्य फल उत्तम सन्तान की प्राप्ति होती है। संतान न हो तो गृहस्थ पति-पत्नी दुःखी रहते हैं और सन्तान होकर बिगड़ जाये तो वे उससे भी अधिक दुःखी रहते हैं। किन्तु उत्तम सन्तान जिसके लिए वेद में प्रार्थना की गई है—"सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम, सुवीरो वीरैः, सुपोषः पोषैः।" उस उत्तम तथा वीर सन्तान की प्राप्ति के लिए माता-पिता को कठोर तपस्या एवं धर्मानुष्ठान का जीवन बिताना होता है।

[१] महा० उद्योग०

क्योंकि सन्तान का प्रथम गुरु माता दूसरा पिता ही होता है। श्री कृष्ण ने एक पत्नी व्रत होकर उत्तम सन्तान के लिये कठोर ब्रह्मचर्य का १२ वर्ष तक पालन करके एक प्रद्युम्न जैसा वीर पुत्र प्राप्त किया था। जिसके विषय में आजतक यह प्रसिद्धि है—प्रद्युम्नः श्री कृष्णात: प्रति:। अर्थात प्रद्युम्न सादृश्य में श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि ही था। और अनेक बार तो यह भ्रम पैदा हो जाता था कि कौन से श्री कृष्ण हैं और कौन सा प्रद्युम्न है। श्री कृष्ण ने अपनी इस तपस्या का स्वयं ही महाभारत में वर्णन किया है। भीमसेन के द्वारा नियम विरुद्ध दुर्योधन की हत्या करने पर अपने पिता द्रोणाचार्य की मृत्यु से दुखी अश्वत्थामा अत्यन्त विक्षिप्त सा हो गया। और उसका बदला लेने के लिए उसने सोते हुए सतस्त्र धारियों तथा द्रोपदी के पुत्रों का वध कर दिया। यह हृदय विदारक दृश्य देखकर भीमसेन को सहन न हुआ और वह अश्वत्थामा को मारने के लिए चल पड़ा। उस समय श्री कृष्ण अश्वत्थामा की क्रूरता एवं वीरता का कथन करते हुए युधिष्ठिर को समझाया कि हमें तुरन्त चलकर भीम की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र को ब्रह्मसिर नामक भयंकर अस्त्र दिया था, जो समस्त पृथ्वी को भस्म कर सकता है और इसने एकबार द्वारिका में आकर मेरे सुदर्शन चक्र को भी मांगा था। इस समय मैंने कहा था—

ब्रह्मचर्यं महद्घोरं तीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत् पार्श्वमास्थाय यो मया तपसार्जितः॥
समानव्रत चारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायतः।
सनत्कुमार स्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः॥
तेनाप्येतद् महद् दिव्यं चक्रमप्रतिमं रणे।
न प्रार्थित मभूत्मूढ़ यदिदं प्रार्थितं त्वया॥
(महा० सौप्तिक० १२।३०-३२)

अरे मूढ ब्राह्मण। इस दिव्य चक्र को तो मेरे पुत्र प्रद्युम्न ने भी नहीं मांगा, जिसकी प्राप्ति के लिये मैंने और रुक्मिणी ने हिमालय पर जाकर १२ वर्ष तक कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था। ऐसे आदर्श गृहस्थ श्री कृष्ण के चरित्र भागवत पुराण के रचयिता द्वारा १६ हजार रानियों का, ग्वाल बालाओं के साथ रंगरेलियां करने का लांछन लगाना, मामा की पुत्री, जो बहन हो लगी, राधा के साथ पत्नी भाव दिखाकर मिथ्या दोषारोपण करना तथा स्नान करती हुए नग्न गोपिकाओं के वस्त्र उठाकर भाग जाना इत्यादि दोष नितान्त झूठे ही लगाये हैं। श्रीकृष्ण

का गृहस्थ जीवन भी निष्कलंक एवं आदर्श था, यह उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट हो रहा है।

४ स्वाभिमानी श्री कृष्ण—

श्री कृष्ण कितने स्वाभिमानी वीर पुरुष थे, इसका परिचय महाभारत के कतिपय प्रसंगों से पता चलता है। पाण्डवों तथा कौरवों के पारस्परिक कलह को समाप्त कराने के लिए श्रीकृष्ण स्वयं दूत बनकर कुरुराज दुर्योधन की सभा में तथा उसके निवास पर गए। जब श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के [1]कपटपूर्ण व्यवहार को देखा तो अपना उद्देश्य असफल समझ कर चलने लगे और उन्होंने दुर्योधन के आतिथ्य को भी स्वीकार नहीं किया। इस पर दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से इसका कारण पूछा। एक राजा के समक्ष दूत रूप में उपस्थित श्रीकृष्ण ने जिस स्वाभिमान के साथ इस समय उत्तर दिया था यह यथार्थ में अनुपम ही था। श्रीकृष्ण ने कहा—

(क) कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव हि।
(ख) सम्प्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद् भोज्यानि पुनः
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(उद्योग ९१।१८,२५)

हे कुरुराज दुर्योधन! तुम्हें मेरी यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि दूत अपना लक्ष्य सिद्ध होने पर ही भोजन और आतिथ्य को स्वीकार करते हैं। और दूसरे के घर पर भोजन दो ही परिस्थितियों में किया जाता है—स्नेह वश अथवा आपत्ति में पड़कर। किन्तु हे दुर्योधन! न तो तुम्हारा हमारे से स्नेह ही है और न हम ही ऐसी आपत्ति में हैं कि जो भूखे ही मर रहे हों।" इसलिए तुम्हारा भोजन किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है। और श्रीकृष्ण ने राजा के घर का भोजन त्याग कर महात्मा विदुर के घर पर जाकर किया।

इसी प्रकार एक दूसरा प्रसंग देखिए—श्रीकृष्ण के बहुत समझाने पर राज्य के मद में उन्मत दुर्योधन ने जब उचित परामर्श भी नहीं माना और समझाने का यह विपरीत प्रभाव दुर्योधन के उत्तर से जाना—"हे केशव! मुझे दुर्योधन के जीते जो पाण्डवों को राज्य का उतना भाग भी

---

१. मृदु पूर्व शठोदर्कम्॥ (महा० उद्योग० ९१ प्र० १३) दुर्योधन की वाणी में प्रथम तो मृदुता थी परन्तु बाद में शठता प्रकट हो रही थी।

नहीं मिलेगा, जितना कि सुई की नोक से छिद सकता है।" इस बात को सुनकर श्री कृष्ण ने भरी सभा में दुर्योधन को जो फटकार लगाई है, उसमें उनका स्वाभिमान व वीरता कूट कूट कर भरी हुई हुई है। श्रीकृष्ण ने कहा—"हे पापात्मन्' ! दुर्योधन ! तू पाण्डवों को जो उनका पैतृक भाग मांगने पर नहीं देना चाहता है, यह तेरा मिथ्याभिमान ही है। जब युद्धभूमि में धराशायी होने से तेरा यह मिथ्या अभिमान चूर चूर हो जायेगा, तब तुझे उनका भाग अवश्य ही देना पड़ेगा। एक राजा को इस प्रकार फटकार सुनाना बिना बल और बिना स्वाभिमान के कदापि सम्भव नहीं है।

और जब दुर्योधन ने दूत रूप में गये श्रीकृष्ण के कैद करने का षड्यन्त्र रचा, जिसका भंडाफोड़ वीर सात्यकि ने समय से पूर्व ही सभा में कर दिया, उस समय तो मानो श्रीकृष्ण का स्वाभिमान सर्वतो गामी प्रतीत हो रहा था। श्रीकृष्ण ने उसी समय धृतराष्ट्र की ओर देखकर जो सिंह गर्जना करते हुए कौरवों को चेलेंज दिया था, वह तो मानो अलौकिक ही था। श्रीकृष्ण बोले—"हे राजा धृतराष्ट्र' ! इन सबको तुरन्त आज्ञा दीजिये कि ये मुझे पकड़ पाते हैं या नहीं ? अथवा इन समस्त क्रोध से पूर्ण कौरवों को मैं कैद करने का सामर्थ्य रखता हूं।

---

(२) यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्य भूमेर्न पाण्डवान् प्रति ॥

(महा० उद्योग १२७।२५)

(३) यत्त्वेभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातित ॥

(महा० उद्योग १२८।१७)

(१) राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ।
एते वा मामहं वैनान् अनुजानीहि पार्थिव ॥
एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ॥

(महा० उद्योग० १३०।२४-२५)